Digitized by eGangotri

लेखक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

स्कैन्ड/Scanned

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

© कुलभूषण

Acc. No 28892
Cost Rs. 4.00
Date 16.1.68

पहला संस्करण : जून, १९६७

मूल्य : चार रुपये

H83
K98L

प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़,
कश्मीरी गेट, दिल्ली–६
मुद्रक : शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस,
के-१८, नवीन शाहदरा, दिल्ली–३२

LALAK by Kul Bhushan : SHORT STORIES 4.00

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

Sri Pratap Singh Library Srinagar

विष्णु प्रभाकर और आरिगपूडि को
जयपुर में बिताए दिनों की याद में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

No ....
....
Date ....

क्रम

हिन्दी कहानी : विधाओं एवं नामों के प्रश्न ... ७
१. पहली सीढ़ी ... १९
२. अनुभव का दायरा ... ३०
३. निश्चय ... ३७
४. ध्वंस ... ५६
५. स्नेहदान ... ६४
६. हरी-भरी गृहस्थी ... ८२
७. इड़ा, पिंगला ... ९२
८. कमीन किरायेदार ... १०३
९. नये चावलों की आढ़त ... ११३
१०. तीन चौखटे ... १२८
११. सम्बल ... १३९
१२. ललक ... १४२

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हिन्दी कहानी

विधाओं एवं नामों के प्रश्न

हिन्दी-कहानी-आलोचना के क्षेत्र में पिछले दस-बारह वर्षों से एक विशेष विचारधारा उत्तरोत्तर जोर पकड़ रही थी—और वह थी, बौद्धिक चिंतन के रूप में 'नई कहानी-परम्परा' की स्थापना। १९५५ के 'कहानी विशेषांक' में एक आलोचक ने जैसे ही 'नई कहानी' नामक साहित्यिक अभिव्यक्ति के प्रारम्भ के विषय में कुछ विशेष नामों के सदंर्भ में अपने विचार व्यवत किए, वैसे ही अनेक स्वनामधन्य लेखक-आलोचकों ने अपने कृतित्व को नया मोड़ देने के या यों कहें कि अपने कृतित्व को कहानी के क्षेत्र से हटाकर आलोचना के क्षेत्र में स्थापित करने की कोशिशें आरम्भ करने के प्रयत्न किए। और ये प्रयत्न इतनी तेज़ी से हुए कि कुछ ही वर्षों बाद सचमुच ही 'नई कहानियाँ' नामक पत्रिका का उदय हुआ—और नारे का रूप धारण करने के साथ-साथ विधा का रूप भी उसने धारण कर लिया।

विधा के रूप में बार-बार यह विचार सामने आया कि नई कहानी अब तक 'कहानी' कही जाने वाली विधा से कहां तक जुड़ी हुई है और कहां तक कटी हुई है।

जहां तक पुरानी परम्परा से जुड़े होने का सम्बन्ध है, यह सर्वमान्य तथ्य है कि कहानी 'आलेख', 'टिप्पण', 'निबंध' अथवा अन्य कुछ न होकर कहानी ही है—भले ही उसके गुणात्मक रूप 'नई कहानी' अथवा नकारात्मक रूप 'अ-कहानी' द्वारा किसी अन्य विचार की स्थापना करने का प्रयत्न किया जाए। वर्तमान काल की किसी साहित्यिक विधा को कहानी का नाम देना ही परोक्ष रूप से यह स्वीकारना है कि यह विधा पुरानी विधा से किसी न किसी प्रकार अवश्य जुड़ी हुई है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जहां तक पुरानी परम्परा से कटे होने का प्रश्न है, कई अलग-अलग मंचों से अलग-अलग लेखक-समूहों द्वारा एवं अलग-अलग आलोचकों द्वारा अलग-अलग विचार व्यक्त हुए। उनमें से कुछ मुख्य विचारों को गिनाना यहां पूरे प्रश्न को समझने के लिए आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रथम, 'नई कहानी' का दावा है कि उसने किस्सागोई को तोड़ा है। किस्सागोई अपने-आपमें जैसे कोई बहुत ही घटिया चीज़ हो, उसे तोड़ने का तात्पर्य उससे बचने से है। मैं इससे कुछ हद तक सहमत हूं, कि आरम्भ में मध्य और अंत की एक वक्र रेखा जो कहीं मध्य में चरम-सीमा पर पहुंचकर अंत में उतर जाती थी, वह आज की कहानी में कुछ बदल गई है। प्लाट नामक चीज़ आज विधा के रूप में मान्य नहीं है, और वह केवल व्यावसायिक फिल्म अथवा रहस्य-कथाओं के उपयोग की चीज रह गई है। मगर किसी भी 'नई कहानी' को—जिसको नई कहने का दावा दर्जनों बार हो चुका है—यदि हम ज़रा बारीकी से जांचें तो पाएंगे कि प्लाट नामक चिड़िया को बदला ज़रूर गया है, मगर यह परिवर्तन केवल इतना ही है कि चोंच को लाल-पीला न रंगकर परों के बीच में वे रंग लगा दिए गए हैं, अथवा परों के कोनों को कतरकर उसे उड़ने से वंचित करने की कोशिशें की गई हैं। दूसरे शब्दों में कहूं, तो यह कि कहानी में किस्सागोई नहीं है, कहानी नहीं है, तो भी कुछ कथ्य ज़रूर है। एक विचार को घटनाओं के माध्यम से जोड़ा गया है, भले ही इस जोड़ने की प्रक्रिया में कुछ परिवर्तन कर दिए गए हों। तात्पर्य यह कि प्लाट की वक्र-रेखा उलटे अंग्रेज़ी अक्षर 'वी' (Λ) कीतरह अब भी है; हां, उसका आरोह उतना ऊंचा नहीं है और अवरोह उतना नीचा नहीं जितना पहले हुआ करता था, अथवा आरोह-अवरोह एक न होकर अनेक हैं।

दूसरे, 'नई कहानी' का दावा है, कि अब साधारण मनुष्य उसके कृतित्व का पात्र है—वह मज़दूर जो गांव से निकलकर कस्बे में मोटर-लारियों के अड्डों पर पहुंच गया है, अथवा वह बड़ा भाई जो कस्बे के घर से निकलकर नगर के कोलाहल में खो गया है, अथवा वह मां जो घर की चहारदीवारी से बाहर बदमाशों के गिरोह में फंसकर दिग्भ्रमित हो गई है। मेरे विचार में यह दावा भी उचित नहीं है क्योंकि प्रेमचन्द और उनके समवर्ती कथाकारों ने राजकुमारों की कहानियां नहीं लिखी थीं। अट्ठारहवीं सदी के यूरोपीय औद्योगीकरण के साथ ही वहां साधारण मनुष्य कहानियों का पात्र बन गया, और यह विचार अंग्रेज़ी में उपलब्ध साहित्य के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

साथ भारत में भी वर्तमान सदी के आरम्भ में पहुंच चुका था। उदाहरण देना हो, तो कहूंगा, गुलेरी की 'उसने कहा था' कहानी एक सामान्य पात्र की कहानी है—जो प्यार की निश्छल भावना की परिणति बिना किसी भावोद्वेग के कर देती है। बीसवीं सदी का पूरा कृतित्व सामान्य मनुष्य के जीवन से जुड़ा है, इस तथ्य से हिन्दी साहित्य के पाठक भली भांति परिचित हैं।

तीसरी बात मन की गहराइयों में पहुंचने की, मनोविश्लेषण की, और मनुष्य के उन सूक्ष्म तंतुओं के उद्घाटित करने की है जिसके द्वारा कहानी-लेखक आज अपने पात्र के भीतरी द्वन्द्व अथवा क्लेश को अंकित करता है। यह विचारधारा भी 'नई कहानी' के प्रवर्तकों की अपनी नहीं है; युंग और एडलर और फ्रायड जैसे प्रतिभावान् मनोवैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र में जो काम किए हैं उनके पश्चिमी साहित्य में उपयोग सर्वविदित हैं। उनका यदि हिन्दी कहानी-विधा में उपयोग किया गया है, तो वह ऐसा विशिष्ट और नया नहीं है जिसके लिए 'मसीहा' होने का दावा किया जा सके। हां, हिन्दी साहित्य के संदर्भ में इसे एक मोड़ की संज्ञा दे दी जाए, तो शायद पर्याप्त होगा।

चौथी बात, क्राइसिस को झेलने की है—वह क्राइसिस जो विभाजन और स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ ही देश की जनता के सम्मुख आ खड़ा हुआ था। 'नई कहानी' के संदर्भ में इस विचार को बार-बार दुहराया गया है, इसलिए इस स्थापना का विश्लेषण यहां बहुत आवश्यक है। 'क्राइसिस' का जहां तक प्रश्न है, वह सारे देश के लिए उतना तीव्र नहीं था जितना पंजाब और बंगाल के कुछ क्षेत्रों के निवासियों के लिए। हिन्दी लेखकों में से कुछेक ही ऐसे थे जो पंजाब के 'क्राइसिस' में से गुज़रे; बंगाल के 'क्राइसिस' से प्रभावित लेखक बंगाल में कम और अन्य प्रान्तों में अधिक थे। इसलिए 'क्राइसिस' का उल्लेख हिन्दी लेखकों के संदर्भ में मूलतः गलत है। रहा झेलने का प्रश्न, तो वह मात्र जीने की प्रक्रिया है, जीते रहने की इच्छा है जो सभी प्राणियों में कम-अधिक मात्रा में विद्यमान है। मेरे विचार में तो प्रश्न झेलने का नहीं है, प्रश्न 'क्राइसिस' को कृतित्व के लिए आत्मसात् करने का है—जिसमें नई कहानी विधा सर्वथा असफल रही है। पुरानी पीढ़ी के लेखक यशपाल के युगांतरकारी उपन्यास 'झूठा सच' का यहां उल्लेख पर्याप्त होगा, क्योंकि इसके मुकाबले में एक भी औपन्यासिक कृति हिन्दी साहित्य में नहीं लिखी गई, भले ही दिग्भ्रमित होकर वासना की अनेक छायाएं पकड़ने का असफल प्रयास

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

युवक लेखकों ने किया हो।

पांचवीं बात नये मूल्यों की है। मानव-समाज अपने को आदिकाल से नियंत्रित करता आया है और इस उद्देश्य से स्थान और काल द्वारा विभाजित प्रत्येक समाज अपने नियम बनाता रहा है। इन अतिरिक्त मगर सर्वमान्य नियमों में जब-जब कुछ ऐसे तत्त्व उभरे हैं, जिनसे जन-नेताओं को लगा है कि इनसे मानव-मात्र का अहित अधिक और हित कम होता है, तब-तब इनके विरुद्ध आवाज़ उठाई गई है और लोकमत को जीतने के बाद इन नियमों में परिवर्तन किए गए हैं। इन बदलते नियमों से मनुष्य का आचरण अपने सहवर्तियों के प्रति व्यवस्थित होता रहा है और ये नियम ही समाज के मूल्यों की स्थापना करते रहे हैं। स्पष्ट है, कि ज्ञान-विज्ञान के विस्तार से हुए औद्योगीकरण द्वारा समाज के गठन में, जीवन-यापन के क्रिया-कलापों में, जो आमूल परिवर्तन होते हैं, उनसे समाज के नियम और नियमों के फलस्वरूप मूल्य भी बदलेंगे। हमारे देश में विभाजन और उसके संदर्भ में हुई उथल-पुथल के बाद हमारे इन मूल्यों में परिवर्तन आवश्यक थे, और वे परिवर्तन साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति की मांग करते थे, यह भी स्पष्ट है। तथाकथित 'नये कहानीकारों' ने इस अभिव्यक्ति को स्वरूप दिया है, तो इसका प्रमाण प्रत्यक्ष रूप में उनकी रचनाओं में नहीं उभरा है। इसका मुख्य कारण यही रहा है कि उनमें पुरानापन अभी टूटा नहीं है—केवल पुराने संयम टूटे हैं। नये मूल्यों की स्थापना तो नकार के आगे बढ़कर ही हो सकती है; मगर यहां तो स्थिति बिलकुल उलट है। इन कथाकारों ने तो बिलकुल पुराने ढांचे पर, पुराने समाज पर ही अपनी कुंठाएं लादने, अपने निजी जीवन के विरोधाभासों का औचित्य सिद्ध करने में ही अपनी क्रियात्मक शक्ति का अपव्यय किया है।

इसी संदर्भ में एक और बात स्पष्ट करनी आवश्यक है। जैसे हमने अभी-अभी देखा, कुछ मूल्य परिवर्तन की मांग करते हैं। मगर कुछ अन्य मूल्य ऐसे भी हैं, जो शाश्वत हैं, जो मानव-समाज के आरम्भ से हैं और जब तक मानव इस धरती पर जीवित है, बने रहेंगे। ऐसे मूल्य ही हमारी साहित्यिक उपलब्धि के मूल में स्थित हैं; इन्हीं मूल्यों के कारण हम कालिदास, शेक्सपियर, तालस्ताय, गोर्की, चेखव, इत्यादि अनेक साहित्यकारों की कृतियों का आनंद आज भी ले सकते हैं, जबकि अन्य सभी मूल्यों में उनके काल से अब तक आमूल परिवर्तन हो चुके हैं।

बदलते मूल्यों को प्रतिबिम्बित करने का काम साहित्यकार का कम, राज-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नीतिज्ञ का अधिक है; शाश्वत मूल्यों का आधार लेकर रचना करना महान् साहित्यकारों का काम है।

छठी बात, भाषागत क्रियात्मकता की है। कहा जाता है कि विभाजन से पहले की भाषा, विभाजन के बाद के जीवन को व्यक्त करने के लिए अपर्याप्त थी, इसलिए 'नये लेखक' को एक ओर जहां बदलते मूल्यों को प्रतिबिम्बित करना पड़ा, दूसरी ओर उसी संदर्भ में उसे नई भाषा का निर्माण भी करना पड़ा। दूसरे शब्दों में कहा जाए, तो नये लेखकों का यह दावा है कि उन्होंने नये शब्दों का प्रयोग साहित्यिक माध्यमों द्वारा किया।

भाषा का मूल उद्देश्य भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति में जब-जब रुकावट आती है—और यह मूलतः नये विचारों के साथ ही आती है—तब-तब नये शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। मगर ये नये शब्द पुराने शब्दों से भिन्न केवल इस धरातल पर होते हैं कि लिखित भाषा में उनका प्रयोग नहीं होता। शब्दों का आविर्भाव दो प्रकार से होता है; एक, शब्द-रचना-प्रक्रिया द्वारा अर्थात् निर्माण के द्वारा; और दूसरे, बोलचाल की भाषा से उठाकर रचनात्मक साहित्य में प्रयोग द्वारा। पहले को सही अर्थों में निर्माण कहा जा सकता है, और दूसरे को केवल प्रयोग। बोलचाल में प्रयुक्त शब्दों को लिखित भाषा में लाना साहित्यिक दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण काम है, यह मैं नहीं कहता। मैं तो केवल इतना कहना चाहता हूं कि बोलचाल की भाषा से नये शब्द ग्रहण करना और उन्हें साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना एक पुरानी प्रक्रिया है। बोलचाल की भाषा से उठाकर नये शब्दों के प्रयोग से 'नये लेखक' जो दावा करते हैं कि वे कुछ नया कर रहे हैं, वह गलत है। प्रत्येक लेखक अपने समय में शब्दों का चयन करता है; लेखक का काम ही अपनी अभिव्यक्ति के लिए शब्दों का चयन करना है—पुस्तकों से हो अथवा बोलचाल से हो। हां, यदि वह सचमुच बिलकुल नये शब्द गढ़े—और वे शब्द पुस्तकों से चलकर जनता में प्रचलित हो जाएं—तब अवश्य हम 'नये लेखकों' का यह दावा स्वीकार कर सकते हैं। मगर ऐसा नहीं हुआ है, और इसीलिए यह दावा गलत है।

सातवीं बात प्रतीकों की है। कहा जाता है कि प्रतीक 'नई कहानी' का आवश्यक लक्षण हैं। जो विचार प्रत्यक्ष में न रखकर, किसी वस्तु के माध्यम से व्यक्त किया जाए, वह प्रतीक है। इस दृष्टि से देखा जाए, तो 'नई कहानी' में पर्याप्त

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

प्रतीक हैं—मगर इससे पहले ये थे ही नहीं, ऐसा कहना अनुचित होगा। हां, इनके विदेशी संस्करण—जैसे कैक्टस और बीटनिक, विक्षुब्ध पीढ़ी, पराजित पीढ़ी, भूखी पीढ़ी, अवश्य नये हैं। मगर ये भारतीय धरती में उगे हुए नहीं और न ही 'नई कहानी' द्वारा इनका इतना परिष्कार ही हुआ है कि इन्हें भारतीय समझा जा सके। अन्य घिसे-पिटे प्रतीक जैसे 'नई कहानी' के प्रणेताओं द्वारा चाहे जंगले पर हों, चाहे डाक बंगले पर हों, चाहे किनारे पर—नितान्त पुराने और बासी हैं; उनको ओढ़कर यह दावा करना कि कुछ नया प्रयोग किया गया है, हास्यास्पद ही लगता है।

आठवीं बात शिल्पगत प्रयोगों की है। कथ्य को किस प्रकार कहा जाए, क्या कहा जाए और क्या न कहा जाए, कहां से आरम्भ किया जाए और कहां पर खत्म, कहानी कहने का माध्यम कौन हो—इन तथा इन जैसे अन्य अनेक प्रश्नों पर यथेष्ट विचार हुआ है। लेखकों ने अपनी रुचि एवं आवश्यकता के अनुसार ऐसे शिल्प के प्रयोग कहानी में बहुतायत से किए हैं। मगर यहां भी यह कहना उचित नहीं है कि प्रयोगवादिता 'नई कहानी' नामक विधा की विशेषता है। जहां एक ओर 'काम-काज' जैसी प्रयोगशील कहानी विभाजन से कई वर्ष पहले लिखी गई, और 'अपना-अपना भाग्य' और 'परदा' जैसे सफल प्रयोग भी हुए, वहां विभाजन के बाद 'नई कहानी' के तथाकथित काल में पुराने कहानीकारों ने ही 'गदल' और 'धरती अब भी घूम रही है' जैसी सफल कृतियां दी हैं। दूसरी तरफ 'नई कहानी' के मसीहाओं ने जो कृतियां दी हैं, उनमें से अधिकांश पुरानी तर्ज़ की हैं—दूर न जाकर आप 'चीफ़ की दावत' या 'ऊपर उठता हुआ मकान' को 'बूढ़ी काकी' के समकक्ष रख-कर देख सकते हैं।

मैं इससे इनकार नहीं करता कि कई अच्छी कहानियां 'नई कहानी' के झंडे तले गाड़ी गई हैं। मगर जब भी इन कहानियों का जुलूस इकठ्ठा होता है, तो एक बात स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है। वह यह कि 'नई कहानी' आन्दोलन—यदि इसे आन्दोलन मान लिया जाए तो—इसका सर्वश्रेष्ठ कृतित्व सन् १९५५ में सामने आया और १९५८ तक यह कृतित्व चुक गया। नई कहानियों की सूची में आज गिनाई जाने वाली कहानियों की इससे अधिक शोचनीय स्थिति क्या होगी कि सात-आठ वर्ष पुराने कृतित्व का ढोल पीटने से आगे कोई 'नई कहानी' का लेखक-आलोचक नहीं जा सका ?

और उससे भी अधिक शोचनीय यह तथ्य है कि जो भी कहानियां 'नई कहानी'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लेबल के अन्तर्गत आती हैं, वे कहानी परम्परा से जुड़ी हुई हैं, कटी हुई नहीं। परम्परा से तोड़ने के लाख चेतन प्रयत्नों के बावजूद, अपने अवचेतन में वे कहीं बहुत गहरे अभी भी उस परम्परा से जुड़ी हैं। वे काल-क्रम से 'नई' हैं, शायद विषय-चयन में नई हैं, मगर—जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं—वे कहानी की विकास-धारा की एक मोड़ से अधिक नहीं हैं। नकारात्मक स्वर उनमें से कुछ में बहुत उभरा है, कुंठा की दमित वासना का उसमें समावेश हुआ है, क्लीव रोष भी कहीं-कहीं व्यक्त है—मगर आस्था के और इससे भी अधिक स्वीकृति के स्वर का उसमें नितान्त अभाव है। 'नई कहानी' की उपलब्धि, अगर मैं कहूं कि कुंठाग्रस्त इनकार तक सीमित है तो अतिशयोक्ति न होगी।

× × ×

यों कहानी-विधा के संदर्भ में 'नई कहानी' आन्दोलन का आरम्भ १९५५ अथवा १९५६ में एक प्रश्न के रूप में सामने आया था। मगर १९६३ के अन्त तक आते-आते 'नई कहानी' के किन्हीं प्रवर्तकों में यह विश्वास जमने लगा कि अब 'नई कहानी' को पुरानी कहानी से काट दिया जाए। बिलकुल अलग कर दिया जाए। और तभी ज़ोर-शोर के साथ विज्ञापनबाज़ी और गुटबाज़ी के तत्त्व उसमें उभरे, और वह वैचारिक धरातल जो पहले इस प्रश्न को लाने के समय रखा गया था, हमारे विचारकों के पैरों के नीचे तो बना रहा, मगर लेखक-आलोचकों के तले से खिसक गया।

हुआ यह कि कुछ कहानीकार-आलोचक अपनी अवस्था के प्रति चिंतित हो उठे। पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञापनबाज़ी का ज़ोर हुआ। कुछेक व्यक्तियों ने आपस में एक-दूसरे पर लिखना आरम्भ किया। एक-दूसरे के चित्र छपने आरम्भ हुए। खाने-पीने से लेकर उठने-बैठने तक के तरीकों का बखान हुआ। कहानी के चिंतन से हटकर कहानीकारों के चिंतन पर आकर स्थिति अटक गई।

इसमें काफी हद तक यह तथ्य सहायक हुआ कि कुछ लेखक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक के रूप में प्रतिष्ठित हो गए, और प्रचार का माध्यम उनके हाथों में पहुंच गया। साहित्य-धारा को बिलकुल स्पष्ट रूप से नकारने का जो क्रम अब शुरू हुआ, उससे नये चिंतन को कुंठित होना पड़ा और कुछ देर तक नया चिंतन लगभग समाप्त हो गया। पुराने लेखकों और नये लेखकों के बीच जो खाई थी, वह और भी विषम हो गई, यद्यपि बाहर से सब शांत बना रहा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

स्वार्थ-परकता को इस तीव्रता का एक कारण आर्थिक था, दूसरा सामाजिक। प्रचार के माध्यम से, कुछेक 'नये' कहानीकारों का कृतित्व मात्रा में कम होते हुए भी, उन्हें अन्य स्रोतों से धन लाभ कराने में सहायक हुआ। इससे प्रेरित होकर कुछ लेखक स्वतंत्र लेखन में जुट गए, जिसमें गुटबंदी के सर्जनात्मक कार्य के लिए अवकाश भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सकता था, और इस प्रकार से अर्जित प्रचार के माध्यम से धन-लाभ में वृद्धि भी संभव थी। सामाजिक और आर्थिक तत्त्वों का घात-प्रतिघात इन लेखकों के कृतित्व में उभरता गया।

दलबंदी और गुटबंदी के विषय में अनेक मंचों से अनेक बार इनकार किया गया है। मैं यहां केवल इस सत्य के कुछ उदाहरण उपस्थित करना चाहता हूं।

मार्कण्डेय का प्रथम संग्रह 'पानफूल' जब प्रकाशित हुआ, तो उसके समर्थकों के एक गुट ने, जिसमें श्रीपतराय, नेमिचन्द जैन और प्रकाशचन्द्र गुप्त शामिल थे, 'कल्पना' के एक अंक में इस संग्रह का प्रशस्ति-गान आरम्भ किया और मार्कण्डेय के कृतित्व को प्रेमचंद के समकक्ष रखने की चेष्टा की। आलोचना के क्षेत्र में इस प्रयत्न की सभीने दाद दी और अन्य आलोचक भी इसे ले उड़े। अपने पहले संग्रह द्वारा ही इस लेखक को इतनी प्रशंसा प्राप्त हो गई, कि कृतित्व की मूल भावना—विनय—ही उसके मन से निकल गई। कृतित्व के ऊपर इसका अवश्यम्भावी प्रभाव पड़ा और आज इस तथ्य से कोई इनकार नहीं कर सकता कि लेखक के रूप में मार्कण्डेय नगण्य रह गया है।

जहां एक ओर लड्डू खिलाकर मारने की यह प्रक्रिया हुई—ऐसे अन्य कई उदाहरण आसानी से जुटाए जा सकते हैं—दूसरी ओर कई प्रतिभावान लेखकों के प्रति घोर उदासीनता का व्यवहार हमारे आलोचक वर्ग ने किया, जैसे कि इन लेखकों का अस्तित्व ही न हो। उदासीनता के शिकार लेखकों के नाम गिनाना मेरा अभीष्ट नहीं है, मगर बहुत-से नाम हैं जो किसी भी सजग पाठक को याद होंगे। इस उदासीनता के पीछे क्या भावना काम कर रही है, यह कहना उचित नहीं होगा, मगर इतना संकेत कर देना आवश्यक होगा कि स्वीकृति का मानदण्ड आज कृतित्व न होकर व्यक्तिगत सम्बन्ध हो गया है। जो मित्र है, खाने-पीने का साथी है, स्वार्थ-सिद्धि का माध्यम बन सकता है, वही अच्छा लेखक है, अन्य कोई नहीं।

स्वार्थ-सिद्धि के आलोचना-क्षेत्र में हस्तक्षेप का एक और उदाहरण यहां उपस्थित करना अप्रासंगिक न होगा। दो परिचित लेखक हैं चन्द्रकिरण सौनरेक्सा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और भीष्म साहनी। चन्द्रकिरण की कहानी 'जवान मिट्टी' और कहानी-संग्रह 'आदमखोर' को हिन्दी का प्रत्येक सचेत पाठक जानता और मानता है। मध्यम वर्ग एवं निम्न वर्ग की समानान्तर परिस्थितियों द्वारा बात कहने के उनके ढंग को शायद कुछ लोग पसंद न करते हों, मगर शहर के निम्न वर्ग का विशद चित्रण उनकी हिन्दी साहित्य को ऐसी देन है जिससे इनकार करना कठिन होगा। दूसरी ओर भीष्म साहनी हैं, जो दो कहानी-संग्रहों के लेखक हैं, मगर जिनका आर्य-समाजी आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनी प्रत्येक कृति में परिलक्षित होता है। कहानियां इनकी भी बुरी नहीं हैं— मगर मध्यम कोटि से वे ज्यादा आगे नहीं बढ़ पाई हैं। नई कहानी के कर्णधार जहां एक ओर चन्द्रकिरण के कृतित्व के प्रति पूरी तरह से उदासीन हैं, वहाँ भीष्म साहनी के प्रति 'चीफ़ की दावत' को लेकर बार-बार नतशिर हैं। यह इसलिए कि जहां चन्द्रकिरण किसीका लाभ नहीं कर सकतीं, वहां भीष्म साहनी कहानियों के अंग्रेजी अनुवाद प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छपवाकर धन व यश दोनों में वृद्धि करने में सहायक हो सकते हैं।

गुटबंदी का एक उदाहरण किसी एक को गुट से बाहर निकालने की प्रक्रिया द्वारा भी दिया जा सकता है। निर्मल वर्मा ने जब तक कहानी को 'अंधेरे में चीख' नहीं कहा था जब तक उसने यह नहीं कहा था कि "नयी कहानी अपने में ही एक विरोधाभास है। जिस हद तक वह 'कहानी' है, उस हद तक वह 'नयी' नहीं है। जिस सीमा तक वह 'नई' है, उस सीमा तक वह कहानी नहीं है जैसा आज तक हम समझते आए हैं" तब तक वह नया कहानीकार था। मगर उसके नई कहानी को इस तरह नकारते ही उसे जात-बाहर कर दिया गया और एक प्रतिष्ठित पत्रिका में इस क्रिया को मूर्त रूप दिया गया।

मासिक व साप्ताहिक पत्रों में दलबंदी को बढ़ावा इस प्रकार मिला कि जाने-माने जो भी साहित्यिक पत्र थे, उन्हें 'नई कहानी' के मसीहाओं ने हथिया लिया। जिन्हें वे हथिया नहीं पाए, उनपर परोक्ष-अपरोक्ष रूप से दबाव डाले गए ताकि इन दल-नेताओं का पर्याप्त विज्ञापन हो सके। विचार-क्षेत्र में इससे अधिक शोचनीय स्थिति क्या हो सकती है कि बम्बई के एक मासिक ने जब एक लेखमाला द्वारा नई कहानी के पूर्ववर्तियों को प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखकर गालियां दीं, तब उस लेखमाला के उत्तर में लिखे गए किसी भी युक्तिसंगत लेख को जगह नहीं मिली। कारण, कि सारे तर्कों की काट हो जाने से, पाठक को दिग्भ्रमित नहीं रखा जा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सकता था—और इससे इस सारे आन्दोलन को क्षति पहुंचती थी, जिसपर उनका भविष्य निर्भर था। जवाब अन्यत्र अवश्य छपे, मगर इससे उनकी उन सब पाठकों तक पहुंच नहीं हो पाई जिन तक नई निगाहों के सवाल पहुंचे थे। गाली-गलौज का यह तानाशाही तरीका पुराना है—यूरोप के नाज़ी उद्भव में वह बहुत बड़े पैमाने पर परिलक्षित हो चुका है। मगर वहां भी अंततोगत्वा उसका क्या हुआ, यह सर्वविदित है।

'नई कहानी' विधा न होकर एक गुटबंदी का माध्यम है, इसका एक और प्रमाण भी है। 'नई कहानी' के कहानीकारों की सूचियां यदाकदा लेखों में छपा करती हैं। इन सूचियों में जहां एक ओर वही पुराने गुट के लोगों के नाम होते हैं, वहां दूसरी ओर गर्भस्थ कहानीकारों के नाम भी उनमें गिना दिए जाते हैं। यानी, कि एक ओर जहां जाने-माने लेखकों को 'मस्जिद के बाहर' रखा जाता है, वहां दूसरी ओर उन नामों की गिनती कराते वे हिचकिचाते नहीं जो शायद एक-दो बार ही छपे हैं, या कि जिनकी एक-आध कहानी किसी सम्पादक की फ़ाइल में धरी प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रही है। नाम गिनाना यहां मैं अभीष्ट नहीं समझता, मगर विज्ञ पाठक मेरी बात स्पष्ट रूप से समझ जाएंगे अगर वे 'नई कहानियां' और 'सारिका' में पिछले वर्ष छपी सूचियां पढ़ चुके हैं। नाम गिनाना इसलिए भी उचित नहीं है क्योंकि वे नाम इतने नगण्य हैं कि उनका यहां उल्लेख अनावश्यक विज्ञापन ही सिद्ध होगा।

× × ×

कहानी क्या है, क्या नहीं है, उसमें किन तत्त्वों का समावेश आवश्यक है, किनका नहीं, इन प्रश्नों पर विचार करना यहां अप्रासंगिक न होगा। मगर मैं पहले ही स्पष्ट कह दूं, कि ये विचार सब मेरे अपने हैं, सार्त्र अथवा कामू अथवा अन्य किसी विदेशी लेखक के कृतित्व से 'उधार' लिए हुए नहीं हैं। बम्बई की एक पत्रिका में कई दिन पहले छपे नई कहानी के एक कर्णधार का वक्तव्य और इसके कुछ देर बाद ही छपे सार्त्र के कहानी पर विचार, इन दोनों का मिलान किया जाए, तो वह इस संदर्भ में बहुत दिलचस्प सिद्ध होगा।

अच्छी कहानी एक तन्तु है—एक निहायत ही सूक्ष्म तन्तु जो व्यक्ति का, स्थान का, समय का, पाठक के साथ तादात्म्य कराता है। पहले यह तन्तु मोटा-झोटा धागा था—खुरदरा, असम और अनघड़। आज यह धागा मशीनी युग की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उपलब्धियों के फलस्वरूप सूक्ष्म हो गया है—इतना सूक्ष्म कि इसे नंगी आंख से देखें तो पता ही नहीं चलता कि तन्तु है भी या नहीं।

यह तन्तु अनेक तत्त्वों से बना है। समाज-शास्त्र की आंच, कठोर आर्थिक सत्य की ठंडक, राजनैतिक गणित के आंकड़े—सभी इस तंतु के निर्माण में काम आते हैं। ज्ञान का एक भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसकी उपलब्धियों से परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से यह वंचित रह गया हो।

मगर अन्य औद्योगिक निर्माणों की तरह यह तन्तु जड़ नहीं है। यह तन्तु मृत नहीं है—कभी भी नहीं था। यह तन्तु जीवित है। अच्छी से अच्छी प्रयोग-शाला में इसका निर्माण शायद संभव हो, मगर मूलतः मृत माल से इस तन्तु का निर्माण वहां भी असंभव ही रहेगा।

मेरी दृष्टि में अच्छी कहानी में गति आवश्यक है। किसी भी कलाकृति में यह गति उसकी जान है। जहां कुछ था, वहां से कुछ और कहीं पहुंच जाए—इसीका चित्रण कहानी है। जहां था, वहां ही कुछ पड़ा रहे, वह कहानी नहीं है। मगर जहां कुछ था, वहां से जुम्बिश करके कुछ वहीं लौट आए, यह कहानी है। यानी कि गति आवश्यक है—चाहे किसी भी दिशा में यह गति हो।

मैं समझता हूं, कि 'नई कहानी', 'अ-कहानी' आदि विशेषण मात्र प्रलाप हैं। किस्सागोई से वे किसी प्रकार अलग नहीं हैं, फिर भी दावा वे यही करते हैं कि उनकी रचनाएं, किस्सागोई से दूर हैं। आदर्शों के प्रति वे कटु और खीझ से भरे हैं, मगर दावा वे यही करते हैं कि समाज का सही चित्रण उनकी रचनाओं में है। नैराश्य के गहरे दबाव के नीचे, वे लिप्सा से भरे हैं—मगर दावा वे करते हैं, समाज के पीप-भरे घावों को उघाड़ने का। वासना की नग्नता का चित्रण वे करते हैं, मगर प्रेम की सादगी को समझने का उनमें न धैर्य है, न स्पष्ट बात कहने की सच्चाई। कला का ध्येय वे भौतिक सत्यता को चित्रण करना समझते हैं मगर भौतिक के भीतर भी कुछ है यह वे मानने से इन्कार करते हैं। रचनाकार की निष्पक्षता का ढिंढोरा वे पीटते हैं मगर गिरोह के साथ उनके हर आन्दोलन का संगठन होता है।

यही कारण है कि हिन्दी का लेखक आज भटकाव में है, उसकी रचनाएं कुंठा से ग्रस्त हैं, वह विदेशी साहित्य को भारतीय जामा पहनाने की कोशिशों में अपने-आपको भी भूल जाता है। इस भटकाव से, इस बिखराव से, इस कुंठा से,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

इस अपने-आप को भूलने से वह बचे—यही आशा मैं करता हूं ।

× × ×

प्रस्तुत संग्रह इस समग्र पृष्ठभूमि में पाठकों पर क्या असर छोड़ता है, यह मैं नहीं कह सकता । मगर मैं यह ज़रूर चाहूंगा कि पाठकगण इन कहानियों को पढ़कर अपने विचार मुझे भेजें । लेखक कभी जड़ नहीं है, वह बढ़ता है, नये विचारों को ग्रहण करता है, पुरानों को छोड़ता है । इस प्रक्रिया में विज्ञ पाठक जितनी सहायता करता है और कोई नहीं करता । इसीलिए उसकी अपेक्षा लेखक को बहुत अधिक है ।

यह मेरा तीसरा कहानी-संग्रह है । इसमें सन् १९५७ से लेकर सन् १९६५ तक की लिखी कहानियां संगृहीत हैं । पिछले संग्रहों से इस संग्रह में एक भेद है—पिछली कहानियां सभी सीधी कहानियां थीं, इसमें कुछ व्यंग्य का स्वर उभरा है । 'नये चावलों की आढ़त' और 'कमीन किरायेदार', इस विधा की रचनाएं हैं ।

ए ११३ ग्रेटर कैलाश नगर
नई दिल्ली-१४
१ जुलाई, १९६६

—कुलभूषण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पहली सीढ़ी

महेशचन्द्र अपने कमरे में चक्कर लगा रहे थे। उन्हें कुछ न सूझ रहा था कि वह क्या करें, किधर जाएं ? किस चीज़ को तोड़कर अपना क्रोध शांत करें ? बस अपने एक कमरे के मकान में, जिसमें दो पलंग थे, एक छोटी-सी मेज़ थी, और एक कोने में खाना बनाने का अधूरा-सा सामान था, बिजली के क्षीण प्रकाश के नीचे वह बराबर चक्कर लगा रहे थे। पैरों से कभी अपनी पत्नी मीरा के सैंडलों को ज़ोर से ठोकर लगाते, अपने हाथों की उंगलियों को बारी-बारी से चटखाते, वह इधर से उधर, उधर से इधर आ-जा रहे थे।

घड़ी में आठ बज रहे थे और मीरा का कहीं पता न था। पिछले दो घंटों से वह उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे और उनके क्रोध का उबाल उन्हें बार-बार दांत भींचने पर मजबूर कर रहा था।

मगर यह उनकी अपनी ही भूल थी। उन्होंने मीरा का कहना माना था। उसकी मूर्खता के प्रभाव में आकर वह मुरादाबाद से बम्बई आए थे—आज से छः महीने पहले मुरादाबाद में घी के कारखाने की मनेजरी छोड़कर, अपना सारा जमा-जत्था लेकर वे दोनों बम्बई आए थे। कुछ देर होटलों में रहे, मगर वहां के खर्च से घबराकर, बहुत दौड़धूप और मिन्नत-समाजत करने के बाद उन्हें यह कमरा मिला। मगर फ़िल्मों में बराबर कोशिश करने पर भी उन्हें काम आज तक न मिला था। फिल्मों में काम ? काम की बात सोचते हुए महेशचन्द्र की छोटी-छोटी आंखें बिन्दु बनकर एकाग्र हो गईं और उन्हें भूल गया कि वह बम्बई में हैं, अपने छोटे-से दम घुटने वाले कमरे में हैं, उसमें चक्कर लगाते हुए मीरा का इंतजार कर रहे हैं। वह देख रहे थे वह दिन, जब आशापूर्ण हृदयों के साथ वे दोनों पति-पत्नी मुरादाबाद में अपने पलंग पर बैठकर सपनों के ताने-बाने बुना करते थे। मीरा का चौड़ा चेहरा, मज़बूत ठोड़ी और पतले-पतले होंठ—कोमल मगर दृढ़ आवाज़ में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वह कह रही थी, "मैं हमेशा सपने देखती रही हूं कि एक न एक दिन मैं भी अभिनेत्री बनूंगी। जहां भी मैं जाऊंगी लोगों की नज़रें मुझपर होंगी, लोग मुझे घेर लेंगे, मेरे आटोग्राफ़ के लिए प्रार्थना करेंगे, सिनेमा के परदे पर लोग मेरा अभिनय देखेंगे और समालोचक लिखेंगे, मीरा गज़ब का काम करती है! मीरा का जवाब नहीं है!!"

और लट्ठे का तंग पायजामा और मलमल का कुरता पहने तीस वर्ष के महेशचन्द्र, जो अभी तक केवल अढ़ाई सौ रुपये की नौकरी ही प्राप्त कर पाए थे मगर जिन्हें विश्वास था कि वह बहुत बढ़िया फ़िल्म-निर्देशक व कहानी-लेखक बन सकते हैं, उनके हृदय में मीरा के शब्दों ने एक झंकार पाई थी। उनकी कल्पना में भविष्य का एक दिन कौंध गया था जब उनके पास रहने के लिए एक शानदार कोठी होगी और दरवाज़े पर एक बड़ी चमचमाती हुई कार।

सो अपने पुराने जीवन को त्यागकर, अपने माता-पिता व सास-ससुर की प्रार्थनाओं को ठुकराकर वे बम्बई चले आए थे। महेशचन्द्र का एक मित्र, दर्शनकुमार, एक फ़िल्म कंपनी में सहायक निर्देशक था। उसे महेशचन्द्र ने पहले ही पत्र लिख दिया था—जिसका जवाब भी बहुत जल्दी उसे मिल गया था। "भगवान के लिए ऐसी मूर्खता मत करो। बम्बई में आकर फ़िल्मों में काम खोजने के लिए सोने की खान चाहिए। दो-चार हजार रुपये से कुछ नहीं बनेगा।"

मगर पत्र सुनकर मीरा ने बस अपनी ठुड्डी को एक झटका देकर सारी बात अनसुनी कर दी। और महेशचन्द्र, मूर्ख महेशचन्द्र अपनी पत्नी की आशाओं के शीशमहल में आकर अपनी बुद्धि खो बैठे थे और बम्बई चले आए थे।

पहले-पहल वे दोनों दर्शनकुमार को मिलने उसके दफ़्तर में गए थे। महेशचन्द्र ने अपना सबसे बढ़िया ऊनी सूट पहन रखा था जो उसे अपनी शादी पर सुसराल से मिला था, और मीरा ने किए थे सोलहों सिंगार। कानों में लम्बी बालियां, आंखों में हल्का-सा काजल, होंठों पर लिप्स्टिक—और जार्जट की गुलाबी साड़ी और शनील का लाल ब्लाउज़, हाथों में चूड़ियों की खनखनाहट और गले में लाकेट की दमक!

एक बार तो महेशचंद्र भी अपनी पत्नी का यह रूप देखकर चौंक उठे थे और उन्हें विचार आया था, सुहागरात के समय भी वह ऐसी दिलकश न लगी थी जैसी आज।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और महालक्ष्मी की फ़ेमस सिने बिल्डिंग तक पहुंचते-पहुंचते महेशचन्द्र की चाल में एक अजीब शाहाना अंदाज़ आ गया था, जैसे वह अपने दरबार की ओर जा रहे हों। मगर शीशों के चौड़े द्वार के अंदर कदम रखते ही महेशचन्द्र सकपका गए। एक दर्जन से भी अधिक आंखों ने पलक झपकते मीरा का सम्पूर्ण निरीक्षण कर लिया—ठीक वैसे जैसे कसाई बकरे का अंग-प्रत्यंग की परीक्षा करता है।

महेशचंद्र कट गए। एक क्षण के लिए उनके कदम रुक गए, मगर मीरा का हाथ उनकी कुहनी पर था -- और मीरा का दृढ़ निश्चय उसकी उंगलियों के छोरों से उनके हृदय में पहुंच रहा था और मन मारकर वह सीढ़ियां चढ़ रहे थे।

दफ़्तर में काफ़ी देर प्रतीक्षा करने के बाद दर्शनकुमार अंदर के कमरे से बाहर आया और कुरसी सरकाकर उनके पास बैठ गया। "हैलो, महेशजी, कैसे हो ? क्षमा कीजिएगा, भाभी," उसने कहा। "अभी हमारे डायरेक्टर साहब नहीं आए। बस, आध-पौन घंटा पहले ही बाहर गए हैं। कह गए हैं कि एक घंटे तक लौट आएंगे कहो, महेश, कहां ठहरे हो ? चाय-वाय मंगाऊं ? भाभी तो जरूर पिएंगी क्यों, ठीक है ना ?"

और महेशचंद्र ने पाया, दर्शनकुमार कुछ अजीब-सा व्यवहार कर रहा है। उसके शब्द बिलकुल ठीक हैं, लेकिन नज़रें जैसे किसी झेंप से दबी हुई हैं और वह ऐसे बोलता जा रहा है जैसे खुद महेश को बोलने का अवसर न देना चाहता हो। पहले तो वह ऐसा न था। मुरादाबाद में तो वह आराम से बैठकर महेश के घुटनों पर हाथ रखकर उससे सब हाल पूछता, मगर यहां बम्बई में—खैर, बम्बई नगरी की कृपा ने ही उसे इस तरह बदला होगा !

तभी बाहर का दरवाज़ा खुला और एक घुटे सिरवाला लम्बा-चौड़ा व्यक्ति अंदर आया। पामबीच की पतलून और रेशमी कमीज़, होंठों पर क्रूरता, और आंखों में शैतानी चमक।

"हैलो, दर्शन !"

"हैलो, हुसैन !'

"कांतिभाई अन्दर हैं ?"

"नहीं। क्यों, कोई काम है क्या ?"

"नहीं, ऐसे ही मिलने आ गया था।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

महेशचंद्र बैठे-बैठे हुसैन की तरफ देखते रहे और उसकी आंखों की पुतलियों को देखते रहे जो बार-बार मीरा की ओर मुड़ जाती थीं। अनजान ही वह उठ खड़े हुए और दर्शनकुमार ने शायद उनकी मुखमुद्रा पढ़कर कहा, "चलो महेश, आइए भाभीजी, अंदर बैठेंगे।"

अंदर एक बड़ी मेज़ थी जिसके पीछे एक घूमने वाली कुरसी धरी थी। मेज़ पर एक फ़ाइल पड़ी थी और फ़ाइल के नीचे कुछ कागज़ दबे पड़े थे। और मेज़ के तीन तरफ़, दीवारों और पार्टीशन से सटकर गद्देदार सोफे पड़े थे—लकड़ी के रंग के गहरे लाल चमड़े से मढ़े सोफे।

"आइए, बैठिए!" दर्शनकुमार ने उन्हें सोफे पर बिठा दिया। इतने में चाय लेकर बैरा आ गया

चाय पी चुके तो दोनों मित्र गप्पों में लग गए और जब-जब बातें करते हुए महेशचंद्र ने मीरा की ओर देखा, तो पाया कि वह ध्यान से कमरे की सजावट को देख रही है। खिड़कियों पर जाली के नफीस परदे, घूमनेवाली कुरसी के पीछे दीवार पर बढ़िया सुनहले फ्रेम में जड़ी मधुबाला की रंगीन तसवीर जिसपर इस कम्पनी के आगामी चित्र 'सुंदर नारी' का नाम मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था; और बाईं तरफ पार्टीशन से लटकी एक और तारिका का चित्र जो अपनी जवानी का विज्ञापन बड़ी बेहयाई से कर रही थी।

एकाएक दरवाज़ा खुला और कांतिभाई अंदर आए। साथ ही दर्शनकुमार भी उठकर खड़ा हो गया।

मध्यम कद के कांतिभाई गुजरात के बिलकुल सही नमूने थे। सांवला रंग, गालों की हड्डियां उभरी हुईं। सुनहले फ्रेम के चश्मे से ढकी आंखों के नीचे गहरे गड्ढे, पतले होंठों पर पान की लाली की वजह से एक अजीब-सा छिछोरापन। बढ़िया ऊनी सूट पहने वह अच्छा-खासा कार्टून नज़र आ रहे थे।

अपनी कुरसी के पास पहुंचकर वह खड़े हो गए और दर्शनकुमार ने आग बढ़कर कहा, "सेठजी, यह मेरे मित्र हैं मिस्टर महेशचंद्र। और यह है इनकी पत्नी मीरा।" और फिर मीरा की ओर संकेत करके—"इन्हें अभिनय में बहुत रुचि है।" महेश की ओर इशारा करके—"आप लिखते हैं।"

महेशचंद्र ने आगे बढ़कर कांतिभाई झवेरी से हाथ मिलाया। और कांतिभाई ने बड़ी शिष्टता के साथ मीरा की ओर उन्मुख होकर हाथ जोड़ दिए। फिर सब

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बैठ गए।

बैठते-बैठते महेशचंद्र को ख़याल आया, डायरेक्टर महोदय को उन्होंने कहीं देखा है। आज ही देखा है, शायद अभी-अभी। पान चबाते हुए, हीरे और माणिक की अंगूठियों से सुसज्जित अपने छोटे-छोटे हाथों को मेज़ पर रक्खे कांतिभाई मीरा से बातें कर रहे थे···और मेज़ के नीचे, महेशचंद्र देख रहे थे, उनकी टांगें बराबर हिल रही थीं, हिलती जा रही थीं।

और तब एकाएक महेशचंद्र को याद आ गया कि इन महोदय को उन्होंने कहां देखा था। नीचे इस भवन की सीढ़ियां चढ़कर शीशों के दरवाजों के भीतर आते समय जिन एक दर्जन आंखों ने मीरा का निरीक्षण किया था, उनमें से दो आंखें सुनहले फ्रेम के चश्मे के इन शीशों में से देख रही थीं।

पान की लाल थूक के उड़ते छींटे और कांतिभाई का तर्जनी उंगली से होंठों की कोरों को साफ़ करना महेशचंद्र को एकाएक खल गया। बैठे-बैठे वह घबरा गए—मगर मन मारकर वह चुपचाप बैठे रहे। काम बनने की आशा जंजीर बनकर उन्हें वहां बांधे रही···

पिछले छः महीनों में सैकड़ों बार महेशचंद्र मीरा को लेकर कांतिभाई से मिलने गए। सैकड़ों बार अपनी कहानियां लेकर उन्होंने फिल्मी दफ्तरों की खाक छानी, जिसका असर केवल एक हुआ—कि फिल्मों में काम करने वाला बच्चा-बच्चा उनका परिचित हो गया। एक-दो बार तो उन्होंने लोगों को यह कहते भी सुना कि बीवी के हुस्न पर कहानी बेचने आया है यह बाबू! सुनकर चोटी से एड़ी तक आग की लपट उन्हें जला गई···मगर···मगर···

अंत में उन्होंने निर्णय कर लिया, मीरा को साथ लेकर अब वह किसी स्टूडियो में नहीं जाएंगे। मीरा खुद अब बम्बई से परिचित हो चुकी थी, ट्रेनों और बसों के रास्तों से अनजान नहीं रही थी। वह खुद जाएगी, प्रोड्यूसरों से मिलेगी, काम खोजेगी।

मगर दिन-भर भटकने के बाद रात को अपने कमरे में जब पति-पत्नी मिलते, तो उनकी आंखें बुझी होतीं, उनके होंठ सिए होते, उनके बदन थके होते।

मगर आज? आज मामला हद से गुजर चुका था। महेशचंद्र ने मीरा से दो बजे महालक्ष्मी के स्टेशन पर मिलने को कहा था—और तीन बजे तक स्टेशन के प्लेटफार्म पर वह चक्कर लगाते रहे थे। साढ़े तीन बजे पिक्चर देखने का प्रोग्राम

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

था, मगर गाड़ियां आकर जाती रहीं, प्लेटफार्म भरकर खाली होता रहा—लेकिन 'नन्हीं बूंदें' के प्रोड्यूसर कुंदनलाल को मिलने तारदेव गई मीरा न लौटी।

आखिर तंग आकर तीन बजे उन्होंने बम्बई सेंट्रल की गाड़ी पकड़ी और चंद्रकला पिक्चर्स के दफ्तर का रुख किया। सेंट्रल स्टूडियो के बड़े दरवाज़े से प्रवेश करके, उद्यानों और मोटरों की कतारों के बीच से गुजरकर वह चंद्रकला पिक्चर्स के दफ्तर में गए।

पाम का सूट पहने गोरे चौड़े मुख के दिग्दर्शक श्री वसंत हलदीकर अपनी मेज़ पर बैठे थे। महेशचंद्र को देखकर वह उठ खड़े हुए। "हैलो, कहिए क्या बात है?"

वह अकेले थे, इसलिए महेशचंद्र को ज्यादा झेंप महसूस नहीं हुई। बोले, "मेरी श्रीमती यहां आई थीं? मीरादेवी?"

"मीरादेवी? जी हां, आई तो थीं एक मीरादेवी। कांतिभाई के साथ आई थीं। मगर उन्हें तो यहां से गए दो घंटे से ज़्यादा हो गए···"

महेशचंद्र के गाल ऐसे तमतमा आए, जैसे किसीने थप्पड़ दे मारा हो। "अच्छा तो मैं चलूं!" और उलटकर वह बाहर निकल आए। तेज कड़कड़ाती धूप—खुली सड़कें—ठसाठस भरी बिजली की ट्रेन··

कितनी बातें सुनी थीं उन्होंने कांतिभाई के चरित्र के विषय में। कितनी बार इन बातों को सुनकर, रात के एकांत में अपने कमरे में लेटे, उन्होंने मीरा से कहा था कि वह कांतिभाई झवेरी के पास भूलकर भी न जाए। और आज मीरा अपने पति को प्रतीक्षा करते छोड़कर कांतिभाई की मोटर में सैर कर रही थी।

ट्रेन महालक्ष्मी के स्टेशन पर आ गई और महेशचंद्र उतर पड़े। मगर दफ़्तर में न कांतिभाई थे और न दर्शनकुमार। वह लौटकर फिर स्टेशन पर आ गए। अब घड़ी में आठ बजे थे मगर मीरा का कोई पता न था और प्रतिपल महेशचंद्र का क्रोध बढ़ता जा रहा था।

× × ×

ट्रेन जब दादर के स्टेशन पर आकर रुकी तो मीरा फर्स्ट क्लास के डिब्बे से नीचे उतर आई। उसका सिर भारी हो रहा था और उसकी पीठ के निचले हिस्से में हलका-हलका दर्द था।

सामने बिजली के प्रकाश से जगमगाते स्टाल पर उसने एक कप चाय मांगी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और पर्स में से एस्प्रो की दो गोलियां निकालकर खा लीं।

जब वह स्टेशन से बाहर जाने के लिए मुड़ी तो बिजली की बड़ी सफ़ेद घड़ी में आठ बजकर बीस मिनट हुए थे।

एस्प्रो लेना मीरा का नियम बन गया था। पिछले दो महीनों से वह हमेशा हर शाम को पांच या छः या सात या आठ बजे एस्प्रो की दो गोलियां खाती थी और ऊपर से चाय की एक गर्म प्याली। आज तो खैर एस्प्रो की विशेष ज़रूरत थी।

वह पुल की सीढ़ियां फुर्ती से चढ़ गई—और तिलक ब्रिज पार करते-करते एकाएक गुनगुनाने लगी—

आज वह कांतिभाई के साथ मेट्रो सिनेमा में गई थी। कितने छिछोरे और कमीने होते हैं ये मर्द। पहले दिन ही दर्शनकुमार के साथ जब दफ़्तर में वह कांतिभाई से मिली थी, मीरा को कांतिभाई की असलियत का पता चल गया था। जब महेशचंद्र ने तीन महीने के बाद एक रात उससे कहा था—"मीरा, कांतिभाई से बचकर रहना। वह भला आदमी नहीं है।" तो अंधेरे में लेटे-लेटे वह मुस्करा दी थी।

महेश भी कितने भोले थे। जो बात उसे पांच मिनट में पता चल गई, वह उन्हें तीन महीने बाद पता चली थी।

मेट्रो में पिक्चर अच्छी थी, मगर मीरा को देखने का मौका ही नहीं दिया कांतिभाई ने। खैर, वह भी कांतिभाई से समझ लेगी! इतनी कच्ची वह भी नहीं है कि आसानी से इस हीरे की अंगूठीवाले फिल्म डायरेक्टर और प्रोड्यूसर को हाथ से जाने दे।

मेट्रो से बाद एस्टोरिया में खाना खाते समय कांतिभाई ने कहा था, "जानती हैं, मीरादेवी, 'सुंदर नारी' के बाद में एक अलिफ़ लैला किस्म की कहानी बना रहा हूं। इसमें एक रोल है बदमाश औरत का—कैसा रहेगा आपके लिए?"

तंदूरी रोटी का एक कौर तोड़कर उसे दाल की प्लेट में डुबाते हुए मीरा ने सामने रखे कूलर की तरफ़ देखा जिसमें से सोडे की बोतलें निकालकर एक बैरा उन्हें ट्रे में रख रहा था। अंदर ही अंदर उसका मन खुशी से नाच रहा था, मगर धीरे से सिर हिलाकर मुस्कराते हुए उसने पूछा था, "क्या मैं बदमाश औरत दिखाई देती हूं, सेठजी?"

"देखिए, मुझे सेठजी मत कहिए", कांतिभाई ने गोश्त का एक टुकड़ा कांटे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के साथ अपने मुंह में डालते हुए कहा। "आपको उज्र न हो तो मुझे कांति ही कहिए···हां, अगर यह रोल आपको पसंद न हो तो देखिए, कोई दूसरा अच्छा-सा काम आपको जरूर दूंगा। वैसे यह रोल काफ़ी बड़ा और महत्त्वपूर्ण है।"

मीरा ने खाना जारी रक्खा और जब एक कौर मुंह में डालकर वह कुरसी में पीछे की ओर झुकी, तो मेज के नीचे उसने देखा, कांतिभाई की टांगें बड़ी उद्विग्नता से हिल रही हैं, हिलती जा रही हैं···

नफ़रत और क्रोध और अपमान से मीरा का अंतर एकाएक जल उठा। उसे लगा, वह एकदम उठकर यहां से चली जाए और फिर कभी कांतिभाई का मुंह न देखे।

मगर मेट्रो में उसकी हरकतों को याद करके और अपनी रजामंदी की निश्चेष्टता पर गौर करके उसका क्रोध शांत पड़ गया। अभिनय करने का अवसर प्राप्त करने के लिए वह सभी कुछ बर्दाश्त करने का निश्चय कर चुकी है। फिर यह गुस्सा किस काम का? क्या केवल दिखाने के लिए?

"मैं अभी आता हूं", नेपकिन से हाथ पोंछकर उसे मेज पर रखते हुए कांति-भाई उठकर बाहर चले गए। शीशे में से मीरा उन्हें मैनेजर से बातें करते देख सकती थी। मीरा के अंतर में बेचैनी एकाएक फड़फड़ाने लगी।

और जब कांतिभाई ने लौटकर अपनी जगह बैठते हुए अपनी पर्स में से दस-दस के दो नोट प्लेट में पड़े बिल पर रख दिए और बैरा उन्हें लेकर चला गया, तो वह मीरा का मेज पर पड़ा हाथ थपथपाकर बोले, "मेरे एक मित्र यहां रहते हैं, उन्हें पांच मिनट मिल लें; फिर चलते हैं···"

"तो मैं यहां बैठी हूं···आप हो आइए···" मीरा ने उन्हें देख लिया है, यह वह शायद नहीं जानते।

"नहीं, यह कैसे हो सकता है? चलिए न? ज्यादा देर नहीं बैठेंगे। और फिर आपका काम भी तो उनसे हो सकता है—मद्रास में पिक्चर बनाने की उनकी बात चल रही है।"

मीरा ने हाथ-पांव चलाने बंद कर दिए—जैसे पानी सिर से गुजर चुका हो। सब समझकर भी उसने न समझने का उपक्रम किया और उठ खड़ी हुई—"चलिए···"

···और बाद में लिफ्ट से नीचे उतरते हुए एक बार भी उसकी आंखें न उठीं। प्रत्येक व्यक्ति उसे अपनी तरफ घूरता प्रतीत हुआ। आंखें झुकाए-झुकाए ही वह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

होटल से बाहर निकल आई। कांतिभाई के पीछे-पीछे चलती हुए वह मोटर में बैठ गई।

मोटर का दरवाजा दरबान ने बंद कर दिया तो मोटर सड़क पर आ गई। कांतिभाई ने मीरा की जांघ पर हाथ रख दिया, "मीरा, कहो तो कुछ देर के लिए हैंगिंग गार्डन्स चलें···"

मीरा ने हाथ परे करते हुए कहा, "नहीं, मुझे देर हो गई है। अब मैं घर जाऊंगी।"

चर्चगेट की बजाय ग्रांट रोड के स्टेशन पर सेठ ने उसे छोड़ा, और छोड़ने से पहले वादा लिया कि कल दोपहर को एक बजे जरूर मिलेंगे—यहीं ग्रांट रोड स्टेशन पर—और इकट्ठे खाना खाने ताज जाएंगे।

ट्रेन में बैठकर, कांतिभाई की खरीदकर दी हुई टिकट पर्स में रखकर एकाएक मीरा मुस्करा दी। उसका सारा मलाल मानो एक लहर ने धो दिया। बदमाश औरत का रोल अब उसे मिल गया था। तारिका बनने का सपना अब ज़िन्दगी में यथार्थ रूप लेनेवाला था। उसकी आत्मा में दुख और सुख का अनोखा मेल था और एक पल वह शोक में डूबती थी तो दूसरे पल एक गीत खुदबखुद उसके होंठों पर फूट पड़ता था।

मगर अब तिलक ब्रिज का आखिरी छोर आ गया था, उसे पार करते हुए मीरा एकाएक घबरा गई। वह घर पर होंगे। और हां, वह तो बिलकुल भूल ही गई थी! आज दोपहर को तो सिनेमा का प्रोग्राम था। बेचारे स्टेशन पर आए होंगे, इंतज़ार करके वापस चले गए होंगे।

मगर एक बार उसे काम मिलने लगेगा, तो वह अपने सभी पापों का प्रायश्चित्त कर लेगी। फिर कभी वह उन्हें दुखी न करेगी, उनका बहुत ख्याल रखेगी।

उसके कमरे में बत्ती जल रही थी। घंटी बजाने के बाद जब मकान मालिक के नौकर ने दरवाजा खोला, तो वह सीधी अपने कमरे की ओर चल दी।

किवाड़ खोलकर वह खड़ी की खड़ी रह गई। दीवार की ओर मुंह किए वह लेटे थे और कमरे में जूते-कपड़े-बर्तन, सब ऐसे बिखरे पड़े थे जैसे अभी-अभी भूचाल आया हो।

"मैंने कहा···" बढ़कर मीरा उनके ऊपर झुक गई और ज्यों ही उसने हाथ बढ़ाकर उनका माथा देखना चाहा, महेशचंद्र ने बेदर्दी से उसे झटक दिया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मीरा हड़बड़ाकर पीछे हट गई, जैसे उसे सांप ने डस लिया हो। महेशचंद्र करवट बदलकर उठ खड़े हुए। उनका चेहरा लाल हो रहा था, उनकी आंखें पिन की नोक की तरह छोटी हो रही थीं और उनका शरीर कांप रहा था···

"कहां रही सारा दिन तू ?"

कहते हुए उनके गले की नसें फूल गईं। पायजामे और कुरते में उनका वदन पसीने से इस बुरी तरह तर हो रहा था जैसे अभी-अभी भट्टी के सामने से आए हों।

नीली जार्जेट की साड़ी और गुलाबी रेशम का ब्लाउज़ पहने, हाथ में पर्स लिए, मीरा का दिल मुंह में आ गया। उसका निचला होंठ इकबारगी कांप उठा। मगर फिर अचकचाकर उसने होंठ मजबूती से भींच लिए। नजरें झुकाकर धीरे से बोली, "काम पड़ गया था।"

"कौन-सा बाप का काम आ पड़ा था तुझे ? कहां गई थी तू ?" कहते-कहते महेशचंद्र ने आगे बढ़कर मीरा का पर्स छीन लिया और क्रोध से उसे जमीन पर पटककर पैरों तले रौंद डाला।

मीरा चुप खड़ी रही। नंगे बल्ब के नीचे, अपने हाथों का निरीक्षण करती हुई वह चुपचाप खड़ी रही।

"बोल ?" महेशचंद्र का स्वर पंचम को पहुंच गया। "चुड़ैल ! बोलती क्यों नहीं ?"

"महबूब के पास गई थी काम के लिए।"

"महबूब के पास गई थी या अपने यार कांतिभाई के पास ? मैं दोपहर को वहां गया था। मुझे सब कुछ मालूम है।"

मीरा के सामने, बिलकुल पास खड़े महेशचंद्र चिल्ला रहे थे। एकाएक उन्हें क्रोध का एक नया उबाल आया और जोर का तमाचा उन्होंने मीरा के गाल पर जड़ दिया। "इसी दिन के लिए मुझे लाई थीं यहां ? इस नरक में ? कांतिभाई के साथ मजे उड़ाते हुए तुझे मेरा खयाल भी न रहा। आखिर मैं आदमी हूं या कुत्ता ? बोल, तूने मुझे क्या समझ रक्खा है ? कुत्ता !!"

कंधों से पकड़कर वह मीरा को ज़ोरों से हिला रहे थे। जब उसने कोई जवाब न दिया, तो महेशचंद्र ने ज़ोर से उसे ज़मीन पर पटक दिया। जूतों और बर्तनों के बीच वह धड़ाम से गिर पड़ी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

चौंककर महेशचंद्र ने दरवाज़े की ओर देखा और लपककर उसे बंद कर दिया। "सारे खानदान का नाम रोशन करेगी तू। हां !"

दरवाज़े के पास वह हाथों की उंगलियां चटखाते हुए खड़े रहे। उनकी ठोड़ी क्रोध के अतिरेक से कांप उठी।

मीरा आहिस्ता से उठ खड़ी हुई। पर्स उठाकर उसने मेज़ पर रख दिया और फिर एक तरफ़ खड़ी हो गई।

"तू बोलती क्यों नहीं, मीरा!" एक बार फिर आगे वह बढ़ आए। उन्हें सूझ न रहा था कि अपने हाथों के साथ वह क्या करें। मगर वह आगे बढ़ रहे थे—और मीरा के पास पहुंचकर एकाएक उनके हाथ-पांव साथ-साथ चल पड़े। थप्पड़, घूंसे, लातें—सभी कुछ जो उन्होंने अपनी पत्नी पर आज तक न आज़माया था, आज आज़मा लिया। यहां तक कि वह फूट-फूटकर रो पड़े, मगर मीरा चुपचाप खड़ी रही।

"मीरा! मीरा!" चारपाई पर बैठकर वह रो रहे थे, अपनी पत्नी को पुकार रहे थे, अपने बाल नोच रहे थे।

मीरा आगे बढ़ी। उनके पास चारपाई पर बैठकर उसने उन्हें बाहों में ले लिया। और कुछ देर बाद पति-पत्नी दोनों रो रहे थे। "मैंने तुझे मारा, मीरा! मैं बड़ा पापी हूं। तुम वादा करो, अब कांतिभाई से कभी नहीं मिलोगी। वादा करो! मैं कहता हूं, वादा करो!"

"अब नहीं जाऊंगी कांतिभाई के पास। अब कभी नहीं जाऊंगी।" मीरा ने कहा। मगर बहुत अंदर, दिल की गहराई में वह जानती थी यह वादा छल है, कपट है, झूठ है। वह जरूर जाएगी, ज़रूर बदमाश औरत का रोल अदा करेगी, जरूर फ़िल्म स्टार बनेगी। परदे पर लोग उसे देखेंगे और समालोचक उसकी एक्टिंग की भूरि-भूरि प्रशंसा करेंगे। कभी वह बाज़ार जाएगी, तो लोग उसे घेर लेंगे, कहेंगे, "मिसेज़ मीरा, आटोग्राफ़ दीजिए! आप सचमुच बहुत बड़ी कलाकार हैं!!"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अनुभव का दायरा

लदन के फिट्जराय स्क्वेयर पर भारतीय विद्यार्थियों के होस्टल की नई इमारत के बाहर सीढ़ियों पर खड़े हम छः व्यक्ति बातचीत कर रहे थे। शाम का खाना खा-कर अभी-अभी बाहर निकले थे। अंधेरे आकाश के नीचे, सामने फैले पार्क के पास, सड़क की वत्तियां जगमगा रही थीं। कभी-कभार एक-आध कार का हार्न बज उठता और फिर घरघराहट दूर चली जाती और फिर सन्नाटा छा जाता। पेड़ों की पत्तियां हवा के तेज़ झोंकों के आगे झुक जातीं और फिर तन जातीं; सर-सराहट सन्नाटे में लीन हो जाती।

डाक्टर डीसूजा ने अपने सफेद बालों पर हाथ फेरकर कहा, "मैं चलता हूं। कुछ पढ़ाई कर लूं।"

"अरे, क्या करोगे पढ़कर ?" चन्द्रकुमार ने कहा। "हमारे साथ रात की पिक्चर देखने चलो।"

"आज नहीं, फिर कभी।" और डाक्टर डीसूजा ने सबसे हाथ मिलाकर विदा ली। शीशे के दरवाज़ों से परे, प्रकाशमय हाल में लिफ्ट के पास पहुंचकर वह प्रतीक्षा करने लगा।

"अच्छा, तो हम चले।" चन्द्रकुमार, श्रीवास्तव और बोस, तीनों सीढ़ियां उतरकर वारेन स्ट्रीट ट्यूब स्टेशन की ओर चल दिए।

और अब रह गए मैं और रणसिंघे। अधेड़ उम्र के रणसिंघे साहब लंका के कांडी नगर के एक रईस थे। उनकी काफी बड़ी जायदाद थी। कुछ नाटे, कुछ भारी बदन के, खुलते रंग के और हंसमुख, रणसिंघे पहले ही दिन से मुझसे घनिष्ठ हो गए थे। वह सैर-तफरीह के लिए यहां आए थे। उनका खर्च किसी बड़ी कम्पनी ने दिया था जिसके लिए वह कुछ औपचारिक-सा काम करने आए थे। आठ दिन बाद वह वापस लंका के लिए रवाना होने वाले थे।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"चलो, कुछ घूम-फिर आएं।" रणसिंघे ने पतलून में कमीज खोंसते हुए कहा और कोट की आस्तीन चढ़ा ली, जो ज़रूरत से ज़रा ज़्यादा लम्बी थी।

"कहां चलें ?" मैंने पूछा।

"चलो, आज पिकाडिली चलें।" रणसिंघे ने कहा। "सुना है, वहां लड़कियां होती हैं।"

"लड़कियां तो सभी जगह हैं," मैंने कहा। "खैर, चलो, घूम-फिर आएं। दो-तीन घण्टे की सैर ही सही।"

दाईं ओर घूमकर हम थोड़ी ही देर में टाटेन्हैम कोर्ट रोड पर आ पहुंचे और वहां से बस पकड़कर कुछ ही देर बाद पिकाडिली पहुंच गए।

पिकाडिली के चौराहे पर गजब की चहल-पहल थी। फव्वारे की धाराएं, काले आकाश की पृष्ठभूमि के आगे ऊंची अट्टालिकाओं पर लगे नियोन-साइन के जलते-बुझते प्रकाश में, अठखेलियां करती गिर रही थीं। और प्रेम के शिशु-दूत तीर-कमान साधे अपने चारों ओर चलती-फिरती स्त्री-पुरुषों की भीड़ पर अपना जादू छोड़ रहे थे।

रात अभी जवान थी। फुटपाथों पर जवान, अधेड़, बूढ़े सभी उत्साह से अपने चारों ओर देख रहे थे। आंखों में आशा अभी उभर रही थी—क्योंकि रात अभी जवान थी और जवान रात में जवानी की सभी रंगीनियां जागती हैं, अंगड़ाई लेती हैं, कसमसाकर उठ बैठती हैं।

रात जवान थी और कहवाघरों के दरवाज़ों पर भीड़ थी। लड़कियां पाउडर और लिप्स्टिक लगाए, अपने बेहतरीन फ्रॉक पहने, अपनी बेहतरीन मुस्कराहट लिए प्रतीक्षा में अकेली खड़ी थीं, या अपनी सखियों से चहचहा रही थीं, या अपने चहेते के आने पर बालों की लट उंगली पर लपेट रही थीं। पैर उद्विग्न थे कि नाच की धुन पर ताल दें। आंखें भूखी थीं कि चहेते चेहरे पर नज़रें टिकें और टिकी रहें। हृदय उद्विग्न थे कि बाहर छनकर आती रोशनी में खड़ी न रहकर वे भीतर जाएं, जाम पिएं, हंसें और बांहें बढ़ाकर बाहें थाम लें।

रात जवान थी, और काले सूट पहने खुशबू से तर रूमाल अपने कोटों की ऊपरी जेबों में खोंसे, चमचमाते बूटों की ठोकरों को निहारते नौजवान व अधेड़ पुरुष आशा लिए खड़े थे। कभी किसीसे मज़ाक करते, कभी उचटती निगाह घुंघराले बालों वाली ऊंची लड़की की ओर डालते, कभी गुज़रती कमसिन लड़की की ओर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

घूमकर देखते रह जाते। फिर सीटी बजाते हुए, बूट की नोक सड़क की पटरी पर ठोकते हुए वे ताल देते। कहकहे गूंज उठते। आज रीटा आएगी या नहीं? आज रोजी ने इतनी देर क्यों कर दी? आज स्टेला ने कहा था, साढ़े आठ बजे आएगी, मगर साढ़े नौ बज गए थे और उसका कोई पता न था!

हम इस भीड़ में चले जा रहे थे कि एकाएक रणसिंघे रुक गया। उसकी नज़र की दिशा की ओर देखा तो एक हबशी नज़र आया। ओवरकोट पहने वह फुटपाथ पर घुटने टेके बैठा था। उसके हाथों में उसका फैल्ट हैट था और उसकी आंखों में बेबसी का भाव तैर रहा था। "प्लीज़!" वह कह रहा था—"प्लीज़!"

और अब मेरी नज़र उठकर उस युवती पर गई जिसके सामने वह हबशी झुका हुआ था। वह एक कहवाघर के दरवाज़े की बगल में दीवार से सटकर खड़ी थी। निहायत ही मामूली किस्म की लड़की; पतली, नाज़ुक नैन-नक्श, चेहरे पर नीली रगें पाउडर से जीतकर उभरी हुईं और आंखों के नीचे काले गड्ढे। बस, गोरी चमड़ी के सिवाय उसके शरीर में कुछ भी विशेष मुझे दिखाई न दिया।

और ज़्यादा रुकना सभ्यता के विरुद्ध था, सो हम आगे बढ़ गए। जाते हुए मैंने सुना, वह लड़की हबशी से कह रही थी, "जाओ! मैं कहती हूं, चले जाओ।"

दस-बीस कदम चलकर रणसिंघे बोला, "चलो, लौट चलें। देखें, हबशी क्या कर रहा है?"

कुछ कदम आगे जाकर हम वापस मुड़े। उस जगह के पास से फिर गुज़रे तो देखा, हबशी अब भी घुटने टेके बैठा था, और टेढ़ी गर्दन किए, अपने बाईं ओर कहीं दूर देखती हुई, पहुंच से बाहर अनछुई देवी की भांति वह लड़की दीवार से लगी खड़ी थी।

हबशी कह रहा था, "प्लीज़! प्लीज!"

रणसिंघे ने कहा, "देखा! तुम तो कहानियां लिखते हो। इस पुरुष की बेबसी देखो। यह व्यक्ति अपने देश में चार-छः-दस स्त्रियां रखता है; उन्हें ऐसी बेरहमी से इस्तेमाल करता है जैसे वे भेड़-बकरियां, गाय-भैंसें हों। मगर यहां···"

"हां··"

बातें करते हुए हम पिकाडिली के कहवाघरों को पीछे छोड़ आए थे। लगभग सुनसान-सी सड़क पर एकाएक एक अधेड़-उम्र सूजे हुए चेहरे के व्यक्ति ने हमारा रास्ता रोक लिया। लड़कियां चाहिएं आपको? नीचे तहखाने के होटल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

में चलिए। शराब भी मिलेगी, लड़कियां भी मिलेंगी।"

मैंने रणसिंधे की ओर देखा। उसने हकलाते हुए जल्दी से कहा, "नहीं-नहीं ...अभी नहीं—अभी हम घूमेंगे..."

सूजे हुए चेहरे के व्यक्ति को निराश छोड़कर हम आगे बढ़ गए। मैंने रणसिंधे से कहा, "क्यों, घबरा क्यों गए ? तुम तो अनुभव बटोरने यहां आए थे न ?"

रणसिंधे ने अपने कोट की बांहें तनिक चढ़ाईं। बोला, "देखते जाओ, भाई! देखते जाओ। तुम्हें क्या कम अनुभव मिल रहे हैं ?"

मैं चुप रहा। पिकाडिली के पीछे की गलियां अंधेरी और सुनसान थीं। मैंने आंखें उठाकर देखा तो अपनी स्थिति पर आप ही हैरान रह गया। इस समय हम एक ऐसे स्थान पर पहुंच गए थे, जहां तीन-चार गलियों की आड़ी-तिरछी रेखाएं हमारे आसपास फैली हुई थीं। मकान अंधेरे में चुप थे, जवानी का ज्वार-भाटा भी यहां नहीं था, रात का उतावलापन भी हम पीछे छोड़ आए थे। चन्द ही कदम हमें ठाठें मारते समुद्र से थके और निराश सूनेपन में ले आए थे।

मैं रुक गया था और साथ ही रणसिंधे भी रुक गया था। सड़क की बत्तियां यहां-वहां और दूर तक रात के अंधेरे में दायरे बनाए चुपचाप खड़ी थीं और इन्हीं-में से कुछ दायरों के बीच मूर्तियां-सी खड़ी थीं—अकेली, बुत बनी स्त्रियां, जिन्हें न जाने किनका इन्तज़ार था।

सभी मूर्तियों के हाथ नीचे लटके थे, चेहरे ऊपर उठे थे, लैम्पों के प्रकाश-पुंजों में वे सिमटी भी लगती थीं, खुली भी। छुप जाना चाहती थीं, मगर दिखाई भी देना चाहती थीं। बाल कंधों पर छितरे हुए थे, टिमटिमाते तारों-भरा आकाश ऊपर फैला था, कुछ सिक्कों की आशा दिल में सिमटी हुई थी।

रणसिंधे ने आस्तीन को ज़रा ऊपर चढ़ाकर, "चलो, ज़रा इनके पास चलें।"

"जाओगे ?" मैंने पूछा।

"तुम आओ न ! देखो, क्या कहती हैं।"

वह आगे बढ़ गया और मैं उसके पीछे-पीछे हो लिया। सबसे पास के लैम्प के नीचे एक लम्बी छरहरे बदन की युवती, जिसे हमने अब तक नहीं देखा था, एक टोकरी ज़मीन पर रखे खड़ी थी। एक नाविक उसे अपने बाहुपाश में बांधे हुए था और दोनों के होंठों के ऊपर युवती की आंखें शून्य में भटकी हुई नज़र आ रही थीं। हम उस युवती और नाविक के जोड़े को लांघ गए और सड़क के पार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

एक लैम्प के नीचे खड़ी अकेली लड़की की ओर बढ़ गए।

रणसिंघे के उसके पास पहुंचते ही लड़की ने अपनी गर्दन को झटका दिया, और बालों का गुच्छा जो उसके माथे पर था, पीछे चला गया। बड़ी-बड़ी आंखों से उसने रणसिंघे की ओर देखा और अपने पतले नाज़ुक होंठों पर ज़बान फेरकर बोली. "बीस शिलिंग ! जल्दबाजी कतई नहीं ! भरपूर मज़ा !"

रणसिंघे ने एक पल लड़की के चेहरे और बदन को निहारा, फिर वह एक कदम पीछे हटा और मुड़कर आगे बढ़ गया। मैं भी उसके पीछे-पीछे था; मोड़ के पास पहुंचकर मैंने उसे आ पकड़ा। पूछा, "क्यों, पसन्द नहीं आई ?"

"नहीं, ऐसी बात नहीं है।" रणसिंघे ने कहा। "ज़रा एक-आध से और पूछ लिया जाए।" और वह एक अन्य लड़की के पास पहुंचकर, प्रश्न-सूचक दृष्टि से उसकी ओर देखता खड़ा हो गया।

यह लड़की ज़रा अधिक उम्र की थी। आखों के नीचे गड्ढे नीले हल्के थे, मगर बदन में अब भी ताज़गी बाकी थी। भूरी आंखों के ऊपर काली तराशी हुई भवें उसे कुछ-कुछ हालीवुड की अभिनेत्री का-सा आभास दे रही थीं। लड़की ने रणसिंघे को देखकर भी अनदेखा कर दिया। फिर आंखें झुकाकर, बहुत ही नर्म नाज़ुक आवाज में बोली, "बीस शिलिंग ! जल्दबाज़ी कतई नहीं ! भरपूर मज़ा !"

रणसिंघे इस बार लड़की की ओर देखकर मुस्कराया। बोला वह इस बार भी कुछ नहीं। मुड़कर जब वह आगे चला, तो मैंने देखा, लड़की ने नज़र उठाकर उसे देखा—आंखों में घृणा का उबाल-सा था, और होंठ कुटिल हो गए थे। बेबसी में भी इन्सान कितना हिंस्र हो सकता है, यह उसकी भाव-भंगिमा में बहुत सूक्ष्मता से झलक गया।

इस बार मुझसे नहीं रहा गया। तेज कदम बढ़ाकर मैं रणसिंघे के पास आ गया, बांह पकड़कर मैंने उसे रोका। "मेरी एक बात मानोगे ?"

"कहो।"

"अब चलो। बहुत अनुभव बटोर लिए तुमने।"

"नहीं यार, बस एक-दो को और देख लें; फिर चलते हैं।"

मुझे ताव आ गया। मैंने वहीं सड़क पर उसे बांह पकड़कर खींच लिया। बोला, "तुम यह क्यों नहीं समझते, रणसिंघे, कि ये लड़कियां अपना शरीर ज़रूर बेचती हैं, मगर अपना सम्मान नहीं बेचतीं ? अगर तुम्हें इनमें से किसीकी ज़रूरत है, तो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दूर से ही जांच लो कि कौन-सी तुम्हें पसन्द है। रेट तो तुम जान ही चुके हो। बस, चले जाओ जहां ले जाती हैं और अपने अनुभव के दायरे को पूरा कर लो। तुम्हारा इस तरह रेट पूछकर आगे बढ़ जाना मुझे तो शर्मनाक लगता है।"

"बस, बस, बस !" रणसिंघे ने अपनी बांह मेरी पकड़ से छुड़ाई और कोट की आस्तीन को कुछ ऊपर चढ़ाया। वह हंस रहा था। "वाह भाई, वाह ! कोई उपदेश सुने तो तुमसे सुने ! अरे, इनके क्या सम्मान-असम्मान ? ये बेचती हैं; हम दाम पूछ रहे हैं। तुम्हारे जैसा लेखक तो बस हवा में बातें बनाना ही जानता है। आदर्श बघारने में तो तुम मेरे पिता से बाज़ी मार ले गए। वाह भई, वाह !"

मैं कुछ नहीं बोला। अब यह सुनना नहीं चाहता, तो मैं किसे सुनाऊं ? घूमने आया हूं, लड़ाई मोल लेने नहीं आया। करने दो इसे जो कुछ करता है। मेरा क्या बिगड़ता है ?

रणसिंघे ने मेरी बुझी हुई शक्ल देखी, तो उसके स्वर में अभ्यर्थना भर आई। "बुरा मान गए ? अरे, मेरी बात का बुरा मत मानो। बस, मेरे साथ चले आओ।"

और मैं उसके साथ-साथ चलने लगा।

कुछ दूर चलकर उसे तीसरी लड़की भी मिल गई। यह पहली दोनों लड़कियों से कहीं अधिक सुन्दर थी। शरीर का कटाव और संतुलन अद्वितीय। चहरे पर लावण्य। आंखों में एक अजीब-सी सम्मोहिनी।

मगर न जाने क्या हुआ, कि अभी रणसिंघे उसकी ओर उन्मुख हुआ ही था कि लड़की घूम पड़ी। पटरी की जिस दिशा से हम दोनों आ रहे थे, उस दिशा से ठीक विपरीत दिशा की ओर मुंह करके वह लड़की खड़ी हो गई—जैसे उसने हमें देखा ही न हो। केवल एक मुद्रा से तंग आकर जैसे उसने दूसरी मुद्रा धारण कर ली हो।

रणसिंघे को जैसे काठ मार गया। कुछ देर वहीं सड़क की पटरी पर खड़ा वह स्थिति को समझने का प्रयास करता रहा। और फिर···

एकाएक सारी स्थिति मेरे सम्मुख स्पष्ट हो गई। सड़कों के जाले में बिखरे प्रकाश-पुंज मेरे सामने जगह-जगह दिखाई दे रहे थे। इन प्रकाश-पुंजों में से लगभग प्रत्येक पुंज के बीचोंबीच एक लड़की प्रतीक्षा कर रही थी। अलग-अलग लड़कियां, अलग-अलग प्रकाश-पुंज ! मगर सभी लड़कियों की बिरादरी एक थी, जैसे प्रकाश-पुंजों का उद्गम, उनका स्रोत एक था। हाथ के एक संकेत से, सिर के एक हलके-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

से झटके से अथवा आंखों के एक इशारे से एक संदेश सबके पास पहुंच चुका था।

यह गाहक नहीं है ! यह गाहक नहीं है !! यह गाहक नहीं है !!!

रणसिंघे को सारी बात मालूम हुई अथवा नहीं, यह मैं नहीं जानता मगर उसके मुख पर एक निरीह परास्त भाव उभर आया था। झूठी-सी हंसी के साथ उसने अपने कोट की आस्तीन ऊपर चढ़ाई और फिर मेरा हाथ पकड़ मुझे लगभग घसीटता हुआ वह वापस मुड़ गया।

"चलो, अब घर चलें। अब हमें नींद आ रही है।"

और बस पर चढ़कर टाटेन्हैम कोर्ट रोड की ओर जाते समय, बसस्टॉप पर उतरकर फिट्जराय स्क्वेयर की तरफ पैदल चलते हुए, भारतीय विद्यार्थियों के होस्टल की सीढ़ियां चढ़कर शीशे मढ़े द्वार से भीतर जाते हुए, दूसरी मंज़िल पर अपने-अपने कमरों की ओर जाने के लिए रुख़सत होते हुए—इस सारे वक्त में रणसिंघे ने मुझसे एक शब्द भी नहीं कहा !

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

निश्चय

उर्मिला ने आंखें खोलीं। बाहें ऊपर करके उसने जोर की एक अंगड़ाई ली और उसके युवा शरीर का अंग-अंग खुलकर मुस्करा उठा।

आकाश से सुबह झांकने लगी थी, मगर नींद अभी चारों ओर छाई थी—जैसे दिन के प्रकाश में जादू की छड़ी से किसीने सारे स्त्री-पुरुषों-बच्चों को सुला दिया हो !

इस मौनता में उर्मिला का मन अपार संतोष से भर उठा। उसे लगा जैसे प्रसन्नता उसके भीतर पनप रही हो, उसके अंग-प्रत्यंग पर छा रही हो।

और फिर किसी स्वप्निल देश के मोहक संगीत की भांति पंछियों का मद्धम कलरव उसकी चेतना को भेद गया। आकाश की नीलाहट किसीकी गहरी प्यार-भरी चितवन की तरह निर्मल उसपर झुक आई। उर्मिला की इच्छा हुई, वह भी इस नीले आकाश में दूर की उड़ान ले। वह भी खुशी के गीत की एक कड़ी गुन-गुना उठे।

मगर एकाएक उसका चेहरा मंद पड़ गया, जैसे जलते अंगारों पर राख पड़ गई हो। कल की सारी घटना उसे याद आ गई···

कल सुबह वह देर तक सोई रही थी। आठ बजे जब वह जगी थी, तो सिर्फ एक पल के लिए एक अचेतन डर की सिहरन उसके शरीर में दौड़ गई थी और फिर जब उसे याद आया था कि आज इतवार है तो यह डर पिघलकर धैर्य में बदल गया था। वह लेटी रही थी, कमरे के चारों ओर नजरें दौड़ाती रही थी।

चौखट में जड़ा 'वेलकम' का कढ़ा हुआ रेशम सामने की दीवार के बीचोंबीच टंगा था। कितने शौक से मां ने उसे जापानी मशीन लाकर दी थी, आग्रह के साथ उससे कढ़ाई कराई थी, फिर खुद जाकर उसे फ्रेम में मढ़वाया भी था—अपने हाथों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

से सगर्व उसे दीवार पर कील ठोककर टांगा था।

उर्मिला ने बहुतेरा चाहा, मां ग्राज के युग की मांग को समझे। पिछली पीढ़ी की यह कढ़ाई उसे ऐसी लगती थी जैसी मां की पुरानी फुलकारी जो ट्रंक में बंद ग्राज सिर्फ ग्रपनी मौत के दिन गिन रही थी। मगर यह घर मां का ग्रपना घर था ग्रौर मां ग्रपने ढंग से ही इसके कोने-कोने को सजाती थी। तभी तो राधा-कृष्ण का एक पुराना कैलेंडर दीवार पर सजा था ग्रौर दुर्गा मां की छोटी-सी रंगीन ग्राकृति कमरे के कोने में एक ग्राले पर विराजमान थी।

उर्मिला को एकाएक न जाने क्या हुग्रा कि एक बड़े ज़ोर की उबकाई उसके भीतर से उठी। वह भागकर गुसलखाने में चली गई, किवाड़ उढ़काकर वहीं उकड़ू बैठ गई।

कोशिश के बावजूद उसका सारा बदन सिमटकर खुलता रहा। गर्दन झुकाए वह बैठी रही, ग्रपनी कनपटी सहलाती हुई ग्रसहाय प्रतीक्षा में क्षण गिनती रही।

कि एकाएक वह बुरी तरह चौंक गई। उसके कंधे पर हल्का-सा स्पर्श हुग्रा ग्रौर मां की स्निग्ध ग्रावाज़ उसे ग्रातंकित कर गई। "घबरा नहीं, उर्मी बेटा!" मां ने कहा ग्रौर उसके हाथ उर्मिला की पीठ को सहेजते रहे।

ग्रौर उर्मिला भीतर ही भीतर कटती गई। ग्राखिर कैसे वह यह सब मां से कहेगी? दो महीने तक वह इसे छुपाती ग्राई है—ग्रब क्योंकर वह छुपाने में समर्थ रहेगी? कैसा बहाना करेगी?

उर्मिला की घबराहट ग्रब पेट से उठकर कलेजे में पहुंच चुकी थी। उबकाइयों का स्थान ग्रब कनपटी के दर्द ने ले लिया था।

"उठ बेटा, चल तुझे लिटा दूं।" मां ने बांह पकड़कर उर्मिला को उठाया, उसे यत्न से चारपाई तक ले गई ग्रौर लिटा दिया।

उर्मिला का ग्रंग-ग्रंग झनझना रहा था, मगर उसे कुछ सोचना चाहिए, कुछ ढंग की बात कहनी चाहिए। कह दे, कल रात न जाने क्या खा लिया था? कह दे, उसे कुछ दिन से सख्त कब्ज है! चार-पांच दिन से पेट ठीक नहीं है।

मगर क्या मां उसकी बात मानेगी? मां की सीधी-सरल दृष्टि के सामने क्या उर्मिला झूठ बोल सकेगी?

चाय की प्याली लाकर मां ने बेटी के हाथ में पकड़ा दी। यत्न के साथ उठकर बैठी उर्मिला ने प्याली पकड़ते हुए मां की तरफ देखा। मां की ग्रांखें कहीं ग्रौर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

टिकी थीं। चाय की प्याली से उठती भाप पर केंद्रित वे आंखें मौन व्यथा में डूबी न जाने किस चीज़ की प्रतीक्षा कर रही थीं।

उर्मिला ने मुंह फेर लिया। चुपचाप चाय की प्याली पीकर उसने उसे नीचे ज़मीन पर रख दिया और पुनः लेट गई।

उर्मिला को स्वस्थ होते अधिक-देर नहीं लगी। घंटे-भर बाद वह सब्ज़ी काट रही थी। उसके पिता जब पगड़ी को बगल में दबाए आर्यसमाज की रविवार की सभा में से सम्मिलित होकर लौटे और आंगन में चारपाईपर बैठकर 'वीर अर्जुन' पढ़ने लगे, तो उसने लस्सी का गिलास और एक परांठा लाकर सामने रख दिया। और महरी जब बर्तन मांजकर, झाड़ू लगाकर जाने लगी, तो उर्मिला ने अनुभव किया कि वह यह सब अधिक देर तक बर्दाश्त नहीं कर सकेगी।

मां सुबह उसे चाय की प्याली देने के बाद कुछ भी न बोली थी। बेटी के आने-जाने की आहट पर उसने सिर उठाकर उसकी ओर देखा जरूर था, मगर उस देखने में न जाने क्या था कि उर्मिला को होता, वह उन आंखों के सामने ज़्यादा देर न रहे। जल्द से जल्द भाग खड़ी हो।

रविवार का दिन जो पलक झपकते बीतता था, आज रेंग-रेंगकर गुज़रने लगा।

दोपहर को, खाने के बाद, उर्मिला की तंद्रिल आंखें आप ही आप गर्मी के बोझ से दब गईं—और जब गर्म हवा के झोंकों के बीच उसे होश आई तो वह उठकर बैठ गई।

उसका बारह वर्षीय भाई, विनय, पास ही गुड़ी-मुड़ी हुआ सोया पड़ा था। पिता के खर्राटों की आवाज़ बगल के कमरे से आ रही थी।

उर्मिला उठकर बाहर गई। उसने रसोई का दरवाजा खोला, घड़े से पानी ढालकर गिलास भरा, उसे खत्म करके गिलास ज़मीन पर रखा और वापस मुड़ी कि तभी मां ने अंदर आकर किवाड़ उढ़का लिए। उसे देखकर उर्मिला ठगी-सी खड़ी रह गई। उसका हृदय असह्य कचोट से तिलमिला उठा।

मां का कृश शरीर और कमज़ोर चेहरा आंसुओं से सींज रहा था। उसकी आंखें रो-रोकर लाल हो रही थीं। सफ़ेद साड़ी में लिपटे चेहरे पर जैसे किसीने कालिख पोत दी थी। एकाएक मां ने आंचल से आंखें ढक लीं और कुछ देर बाद उसके कमज़ोर कंधे अनायास ही उठने-गिरने लगे।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"उर्मी ! उर्मी ! उर्मी !"

उर्मिला मां की ओर बढ़ी। उसने चाहा, मां से लिपट जाए, उसकी स्नेहार्द्रता में अपने को समो दे, बह जाने दे। मगर तभी झटके के साथ वह रुक गई। वह कलंकित है, वह मां के विश्वास की हत्यारिन है !

देर तक जब मां की हिचकियां न थमीं, तो उर्मिला ने आगे बढ़कर मां के पांव पकड़ लिए। बेटी की बांहों के घेरे में मां का दुख बांध तोड़कर वह निकला। मां ने झुककर बेटी का चेहरा गोद में छुपा लिया। "यह क्या किया, बेटी उर्मी ? तूने यह क्या किया ?"

उर्मिला और मां न जाने कितनी देर तक ऐसे ही रहीं। फिर मां ने झुककर दीवार के साथ रखा पटरा सरकाकर बिछाया और उसपर उर्मी को बिठा दिया। खुद वह फ़र्श पर उकड़ूं बैठ गई।

उर्मिला पैर के अंगूठे से फर्श की ईंटें कुरेदती गई। मां की आंखें बेटी के होंठों पर जमी रहीं। बेटी का अतीत शब्दों में बंधकर मरा-मरा-सा उन दोनों के चारों ओर बिखरता गया। उस छोटे क्वार्टर की छोटी-सी रसोई गर्मी की तीव्रता से असह्य हो उठी।

तभी देसराज की आवाज़ आई। "एक गिलास पानी दोगी, बेटा।"

"बाबूजी पानी मांग रहे हैं", उर्मिला ने साड़ी के छोर से मुंह पोंछकर कहा।

"तू बैठ, मैं दे आती हूं···"

सूनी-सूनी आंखों से उर्मिला ने चारों ओर देखा। कांसे की थाली-कटोरी-गिलास, तवा, सिलबट्टा, सभीपर उसकी नजरें फिसल गईं। उसकी वेदना अपनी वेदना नहीं थी, मां की वेदना थी। मां की डबडबाई आंखें, उसकी दाईं आंख की कोर के पास गोदने के तीन नन्हें बिन्दु, चेहरे की झुर्रियां—और कृश शरीर से लटकी असहाय-सी बांहें। इन्हीं को देखकर वह दुख से कातर हो रही थी। उसने मां की बात तो आज तक सोची भी न थी। मां को इतना कष्ट दिया है उसने, मां को उसने कहीं मुंह छुपाने लायक नहीं रक्खा।

मां लौट आई और जमीन पर झाड़न बिछाकर बैठ गई। मां की नजरें अपनी पतली बांहों, और उभरी नसों से भरे हाथों पर जम गईं। अस्फुट स्वर में उसने कहा, "तो फिर तुमने उससे कहा क्यों नहीं ?"

"क्या फ़ायदा ?" गहरी सांस लेकर उर्मिला ने कहा। मां को सब कुछ बताने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

से लाभ ? जो कुछ हुआ था, उसके अपमान में से वह फिर से न गुज़रना चाहती थी। उस अपमान की याद तक से वह दूर रहना चाहती थी।

"उसकी उम्र क्या है ?"

"उसकी जात क्या है ?"

"कहां का रहनेवाला है ?"

"क्या तुम्हें पक्का मालूम है कि वह कुंआरा है ?"

"कैसे मालूम हुआ है ?"

मां ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी, और धैर्य के साथ, बुझे दिल से उर्मिला जवाब देती गई। मां के सामने साफ़-साफ़ इनकार करने का साहस उसे नहीं हुआ। वर्ना वह सिर्फ़ एक बात कहकर बात खत्म कर देती, "उसका ज़िक्र मत करो मां। बस, कोई था जो अब नहीं है।" मगर मां की आंखों में बसे दर्द को समझकर, उसे बातों में उलझाए रखने की खातिर वह जवाब देती गई। और उसे लगा, वह खुद दलदल में धंसती चली जा रही है, अनजाने में धीरे-धीरे मां के विचार उसके अपने विचार बनते जा रहे हैं।

व्यथा-भरी तप्त दोपहरी के माथे पर सांझ की शीतल उंगलियों का स्पर्श। पसीजे अंगों की थकान का अंत। आंगन में पानी का छिड़काव। जल की शीतल धारा के नीचे ग्रीष्म के एक और दिन की समाप्ति। बर्फ का ठंडा शर्बत और खरबूजों की फांकें।

उर्मिला ने जूड़े में आखिरी पिन लगाकर छोटे-से शीशे में प्रतिबिंबित अपने चेहरे का ध्यान से निरीक्षण किया। साधारण-सा गोल चेहरा, संकरा-सा माथा जिसपर बाल बढ़ते जा रहे हैं, काली साधारण-सी आंखें, पतले होंठ, और चिबुक पर बीचोंबीच एक गड्ढा। उर्मिला को यह चेहरा कभी ज्यादा पसंद नहीं आया, मगर आज न जाने क्यों अपनी छोटी-सी नाक सिकोड़कर उसने अपने प्रतिबिंब की ओर देखकर मुंह बिचका दिया। सच, वह इतनी बुरी नहीं दिखती। पहन-ओढ़कर सुंदर लगती है। दिल की कुंठा धुल जाने से उसका चेहरा सचमुख चमक उठा है।

शीघ्र ही उसे पता चल गया, यह उसका भ्रम नहीं है। कांता, शांता और कमला के साथ जब वह टहलने गई, तो सभीने कुछ न कुछ कह डाला।

"हाय नी !" कमला ने अपनी एक हथेली पर दूसरी हथेली मारकर कहा,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और उसके पतल चेहरे पर मोटी आंखें और भी मोटी हो उठीं। "तुझे क्या हो गया है, नी ?"

"देखो न, सभी की आंखें इसी निगोड़ी पर लगी हैं !" शांता ने उर्मिला की बांह पर चुटकी लेते हुए कहा।

और कांता ने तो उर्मिला को अपनी गदराई बांहों में घेर लिया। गोल चहरेपर अपनी गोल-गोल आंखें घुमाकर बोली, "हमारा तो दिल चाहता है, हम इन्हें चूम लें। क्यों, है इजाजत ?"

उस रात सचमुच उर्मिला को बड़े सुख की नींद आई। मां सब कुछ ठीक कर देगी। मां ने बेटी की सभी भूलें स्वीकार कर ली हैं। वह इन सबका ऐसा व्यवधान सोच चुकी है जिससे सब सुधर जाएगा। कुछ ही दिन बाद उसका अपना घर होगा, उसका अपना कोई होगा, और बहाने ढूंढने का प्रश्न बिल्कुल लोप हो जाएगा। इतनी अच्छी मां होते हुए बेटी को चिंता करने की जरा भी जरूरत नहीं है। यही तो बचपन की खूबसूरती है !

और सोमवार की सुबह को जब वह जगी तो यही संतोष उसके मन में प्रातः की समीर के साथ हिलोरें ले रहा था। लेकिन सुलगते कोयलों में छिपी राख अनजाने ही उसके उल्लास पर बोझिल हो गई···

मां ने जल्दी ही खाना पका लिया, नाश्ता तैयार कर लिया। मां-बेटी इतनी जल्दी तैयार हो गईं कि घड़ी की ओर देखकर उन्हें हैरानी हुई। अभी आठ ही बजे थे और घर-गृहस्थी का काम पूरा हो चुका था। कपड़े पहने, बिजली के छोटे पंखे के पास बैठी दोनों चुपचाप अपनी-अपनी सोच में डूबी रहीं। पंखे के चलने से तिपाई की खड़खड़ उस सोच में घुलमिल गई। बाबूजी इन बातों से बेखबर किसी मित्र के यहां गए थे और विनय स्कूल जा चुका था। मां ने बाबूजी से कुछ न कहा था। जब बातें संभल जाएंगी, तो आप ही आप उन्हें भी पता चल जाएगा। वह बहुत जल्दी घबरा जाते हैं; वाही-तबाही बोलने लगते हैं। मां नहीं चाहती, बेटी की बात बाप के मुंह से ही बिगड़कर मुहल्ले की गलियों में पहुंच जाए।

उर्मिला ने दुपट्टा मरोड़ना बंद कर दिया और अपनी झुकी कमर को सीधा करने के लिए तनकर बैठ गई। चारपाई की अदवान चरमरा उठी। मां ने आश्वस्त निगाहों से बेटी की ओर देखा और फिर गोद में पड़े अपने हाथों पर उसकी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नज़रें टिक गईं। अपनी सफ़ेद साड़ी का पल्ला कंधे पर सहेज दिया और बैठी सोचती रही।

उर्मिला उठ खड़ी हुई। "बहुत गर्मी है !" उसने कहा। "पानी पी आऊं··· तुम पियोगी, मां ?"

"नहीं।"

गुलाबी कमीज और सफेद सलवार पर नाइलोन की महीन जाली की चुनरी उर्मिला को कैसी फबती है। चेहरे पर कल शाम जैसी चमक आज नहीं रही, पर उसकी बिटिया सुन्दर है। दिल में उसे देखकर न जाने क्या पलट जाता है। आंखों में नमी आ जाती है। गहरा निःश्वास छाती से बाहर निकल आता है। शायद इसलिए कि वह उसकी मां है।

जगदीश क्या कहेगा ?

न चाहने पर भी, बार-बार दिमाग से बाहर धकेलने की चेष्टा के बावजूद, यही एक प्रश्न मां के मस्तिष्क में मंडरा रहा था।

जगदीश क्या कहेगा ? बेटी का भाग्य किस करवट बैठेगा ?

मगर जगदीश कुछ भी कहे, उसे यह शादी करनी ही पड़ेगी। मां की मुख-मुद्रा एकाएक कठोर हो गई। वह जानती है, अगर वह किसी बात पर अड़ जाए तो कोई ऐसी शक्ति नहीं जो उसे डिगा सके। मां ने दुनिया देखी है, दुख सहे हैं, मगर अन्याय न कभी सहा है, न सहेगी।

उर्मिला ने बस में मां को खिड़की के पास बिठाया और खुद साथ ही बैठ गई। उसे एकाएक इतने सारे लोगों के बीच मां के साथ दफ्तर जाते न जाने क्यों बेहद झेंप लग रही थी। बस में बैठी अन्य रोज की सहयात्रिणियों की ओर उसने बहुत उड़ती निगाह से देखा और फिर गर्दन के हलके से झटके के साथ अभिवादन का उपचार निभाकर वह बाहर देखने लगी। मां के पतले चेहरे की प्रोफाइल के परे, खिड़की के बाहर बेहद गर्मी थी, आंखें चुंधियाने वाली तेज़ धूप थी, गर्द थी, सरकारी दफ्तरों को जाने वाले क्लर्कों और असिस्टैंटों की साइकिलों का रेला था।

उर्मिला का संतोष न जाने क्यों और कैसे फिर असंतोष में बदलता जा रहा था। न जाने क्यों एक घुटन उसके दिल में उमड़ती जा रही थी।

मां ने बेटी के चेहरे के भावों को बिना देखे ही भांप लिया। उसने बेटी का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कोमल हाथ अपने बूढ़े हाथ में ले लिया। "घबराते नहीं, उर्मी बेटा। सब ठीक हो जाएगा।"

उर्मिला जानती थी, सब ठीक हो जाएगा। मां जिस चीज को हाथ में लेगी, वह सुलझकर ही रहेगी। मां ने ही लाहौर से दिल्ली आकर घर का प्रबंध किया था। उसीने मेहनत कराके उर्मिला को मैट्रिक पास कराया था, बी० ए० में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कराया था। एम० ए० में जब उर्मिला सभी लड़कियों में प्रथम आई, तो उसीने मिल-जुलकर उसे दफ्तर में नौकरी दिलाई थी। उसके पिता जहां कुछ नहीं कर सके, वहां मां की इच्छाशक्ति के आगे कोई बाधा नहीं आई और अब भी नहीं आएगी, मगर फिर भी उर्मिला उदास हो गई, एकाएक निश्चेष्ट और निरुत्साह हो गई, जैसी पहले कभी न हुई थी।

बाहर से साधारण दिखाई देने वाली मगर बुद्धि में असाधारण उर्मिला की इच्छाशक्ति भी मां से कम नहीं थी। अगर मां किसीसे हारती थी, तो केवल उर्मिला से। मगर आज इस व्यापार में जिसमें उसका सारा भविष्य निहित था, वह निर्लिप्त-सी थी। कल की खुशी तो केवल मां की इच्छाशक्ति के साए में पनपी आत्म प्रवंचना-मात्र थी।

एक वर्ष पहले वह पहले-पहल दफ्तर में नौकर होकर आई थी तो अंडर सेक्रेटरी ने उसे चपरासी के साथ सेक्शन आफिसर के पास भेजा था। कई कॉरीडोर लांघकर, जिनमें दोनों ओर अलमारियां व लकड़ी के डिब्बे पड़े थे, वह एक कमरे में दाखिल हुई थी। सरकारी दफ्तर की फाइलें, रजिस्टर, मेज, कुर्सियां, अलमारियां, और इन सबके बीच बहुत उजले कपड़ों वाले मुस्कराते चेहरे के नौजवान के पास आकर चपरासी खड़ा हो गया था।

"भाटिया साहब ने भेजा है।"

नौजवान स्वागत के लिए उठकर खड़ा हो गया था और निहायत अनौपचारिक रीति से उसने हाथ जोड़ दिए थे। किसी अन्य व्यक्ति ने एक कुर्सी सरकाकर आगे कर दी थी और नौजवान के संकेत करने पर वह बैठ गई थी। पर्स से कागज निकालकर उसने नौजवान के आगे रख दिया था।

नौजवान पत्र पढ़ रहा था और उर्मिला रूमाल निकालकर अपना मुंह पोंछ रही थी।

"तो, क्या नाम, आप हमारी नई एसिस्टैंट हैं, मिस उर्मिला! हम आपका

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

स्वागत करते हैं। क्या आप पहले भी कहीं काम कर चुकी हैं, मिस उर्मिला ?"

"जी नहीं।"

"खैर, कोई बात नहीं। क्या नाम, हम आपको जल्द ही सब काम समझा देंगे। क्या नाम, आपको कोई दिक्कत पेश नहीं आएगी।"

"धन्यवाद।"

और फिर जब वह अपनी मेज़ पर बैठ गई और मेज पर पड़े कागज़ों की उलट-पलट के बीच कुछ देर बाद उसने नज़रें उठाईं, तो देखा, कई आंखें उसीकी ओर लगी हैं। मगर झट आंखें हट गईं —अपनी-अपनी मेज़ों के कागज़ों में व्यस्त हो गईं। उर्मिला का मुंह झेंप से लाल हो गया।

मगर उसने अपने-आपको संभाल लिया। उसे यहीं काम करना है, फिर यह शर्म और झिझक कितने दिन चलेगी ? इन सब अनजान व्यक्तियों के बीच उसे अपना स्थान बनाना है ; एक नये जीवन का आरम्भ करना है।

नौजवान जिसका नाम जगदीशचन्द्र वर्मा था, उसका सेक्शन आफिसर था। उसकी हिदायत के अनुसार वह कागज देखने लगी, मनोयोग से काम समझने की चेष्टा में लीन हो गई। दोपहर की छुट्टी पर भी वह बाहर नहीं गई। पास की मेज़ पर बैठे एक अधेड़ व्यक्ति ने, जिसके कपड़े साफ थे मगर आंखें लाल और पीड़ित थीं, उससे चाय के लिए पूछा, मगर उर्मिला ने इनकार कर दिया।

और फिर शाम को एकाएक उसे लगा, वह अकेली है। सिर उठाकर उसने देखा, जगदीश उसके पास खड़ा है और उसका सोने का दांत चमक रहा है। रक्तिम नाक पर पसीने की नन्ही-नन्ही बूंदें हैं।

"मिस उर्मिला, क्या नाम—पहले दिन के लिए काफी काम कर लिया है आपने। अब छुट्टी कीजिए।"

उर्मिला ने फाइल बंद कर दी, कलम पर ढक्कन लगाते हुए वह उठ खड़ी हुई। पर्स उठाकर उसने जगदीश की तरफ देखा तो वह मुस्करा रहा था।

"देखिए···" जगदीश ने कहना आरम्भ किया। उसका एक हाथ आगे बढ़ा था, जैसे कुछ विनती करने वाला हो।

"जी···?"

"कुछ नहीं," जगदीश ने हाथ वापिस खींचते हुए कहा। "चलिए, साथ ही चलते हैं···"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बस में बैठकर उर्मिला बेतरह हंस पड़ी। मुंह पर रूमाल रखकर उसने सोचा, उसका सैक्शन ग्राफिसर कितना ग्रच्छा है; वह उसके रहते जल्दी ही काम सीख जाएगी। मगर वह कितना झेंपू है।

मगर ग्रगली सुबह से ही उर्मिला ने उसे बिलकुल बदला हुग्रा पाया। रूखेपन से वह उसे फाइलें सौंप देता—बेलगाव लहजे में वह उसे हुक्म देकर दूसरे कामों में लग जाता। यहां तक कि उर्मिला को मिस्टर वर्मा से डर लगने लगा।

पहले महीने का एक दिन—उर्मिला के ड्राफ्ट को पढ़कर मिस्टर वर्मा ने ग्रावाज दी, "रघू, मिस उर्मिला को बुलाग्रो।"

उर्मिला मिनट-भर बाद ही मेज के सामने उपस्थित हुई। "देखिए, क्या नाम, यह पत्र का ड्राफ्ट बिलकुल ठीक नहीं है। मतलब साफ है, क्या नाम, मगर कहने का ढंग बहुत भोंडा है। ज़रा ढब का ड्राफ्ट तैयार करने की कोशिश कीजिए—ग्राप तो ग्रंग्रेज़ी की एम० ए० हैं···"

दूसरे महीने का एक दिन—"मिस उर्मिला, वह सेठी के केस का क्या हुग्रा? सिंह साहब ने याद दिलाया है। देखिए, क्या नाम, ज़रा ख्याल रखा कीजिए, याद दिलाने की नौबत ना ग्राए तो ग्रच्छा···"

"जी," उर्मिला ने कहा। "मैं उसीपर काम कर रही हूं। घंटे-भर बाद फाइल ग्रापके पास पहुंच जाएगी।" वह मुड़ी ग्रौर साड़ी का पल्ला खोंसती हुई ग्रपनी मेज पर लौट गई।

तीसरे महीने की एक दोपहर—

"ये चार पार्लमेंट क्वेश्चन हैं—इन्हें ग्राप ही को करना है। दो ग्रादमी छुट्टी पर हैं, एक जरूरी काम से बाहर गया है। क्लर्क से पूछकर फाइलें निकलवा लो ग्रौर शाम को जाने से पहले मुझे सारे कागज़ तैयार मिलने चाहिए।"

"मिस्टर सिंह ने एक ग्रर्जेंट केस दिया है, उसे छोड़ दूं?"

"हां, क्या नाम, मैं मिस्टर सिंह से बात कर लूंगा···"

छः महीने में उर्मिला में जमीन-ग्रासमान का फ़र्क पड़ गया। पहले दिन जो रहनुमाई का ख्वाब उसने देखा था, उसे वह जल्द ही भूल गई थी—ग्रौर फिर जी-जान से मेहनत करती हुई वह ग्रात्म-निर्भर ग्रौर ग्रात्म-संतुष्ट हो गई थी। वेतन के ग्राश्वासन ने भी उसे बदल दिया था—उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व एकबारगी बदल गया था। मिस्टर वर्मा के सोने के दांत की चमक उसने फिर न देखी थी, शायद

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

इसीलिए उसमें इतना तीव्र परिवर्तन हुआ था। परिस्थिति को उसने चुनौती मानकर स्वीकार किया था और···

एक शाम को मिस्टर वर्मा ने उसे बुलाकर कहा था, "कल शाम आपको, क्या नाम, ज़रा देर का काम होगा। घर कहकर आइएगा।"

"जी, मिस्टर वर्मा···"

वर्मा मुस्करा दिए थे -- सोने के दांत की चमक छः महीने बाद फिर दिखाई दी थी और उनकी लाल नाक की नन्ही पोरें उर्मिला को बहुत स्पष्ट दीख रही थीं। उर्मिला वापस मुड़ी, तो एकाएक उसे चेतना हुई कि कमरे में वह और उसके सेक्शन आफिसर अकेले हैं। मगर संदेह को उसने छिड़क दिया।

अगले दिन शाम को पौने पांच बजे चार फाइलें उर्मिला की मेज़ पर आ गईं। "इन सभीको निपटाकर जाना होगा, वर्मा साहब कह रहे हैं। सुबह दस बजे मिस्टर सिंह को इनकी ज़रूरत है।"

अन्य दिनों की भांति आज भी उर्मिला ने यह चुनौती स्वीकार कर ली। "पौने छः बजे हैं," उर्मिला ने कलाई-घड़ी देखकर सोचा। "और अभी तीन फाइलें अछूती पड़ी हैं।"

किसीने दूसरी फाइल उसके हाथ से ली। उर्मिला ने अचकचाकर अपना पेन जोर से पकड़ लिया और नज़र उठाई। "मिस्टर वर्मा···"

"मैंने कहा, क्या नाम, अब चलिए, काम बाद में हो जाएगा।" स्वर में अफसर का आदेश नहीं था, मित्र का स्नेह था। आंखों की नन्हीं पुतलियों में अभ्यर्थना थी, जैसी कभी उर्मिला ने नहीं देखी थी।

वह इनकार नहीं कर सकी। उठकर खड़ी हो गई। कागज़ सहेजकर एक ओर रख दिए। बोली, "चलिए, कहां चलना होगा?"

उस शाम उन दोनों ने गैलार्ड में चाय पी। विदेशी लड़कियों की बातें, पंजाबी नौजवानों की आंखें, भारतीय युवतियों की मुस्कराहट और अंग्रेजी वाद्य यंत्रों का संगीत — इन सबके बीच उर्मिला ने अजीब-सी अनुभूति महसूस की। वह दफ्तर को बिलकुल भूल गई। उसका घर उसके मस्तिष्क में एक धुंधली-सी छाया बनकर रह गया।

गर्दन के गिर्द निवाड़ की रंगीन पट्टी से एक हारमोनियम-सा लटकाए एक नौजवान पियानो के पास खड़ा एक धुन बजा रहा था। उसका एक हाथ धौंकनी पर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

था और दूसरे हाथ की उंगलियां अनायास स्वरों पर दौड़ रही थीं—वह उर्मिला की ओर देखकर मुस्करा रहा था।

उर्मिला ने चाय का एक घूंट लेकर मिस्टर वर्मा की ओर देखा। मिस्टर वर्मा उसीकी ओर देखकर मुस्करा रहे थे।

"आपसे बहुत बार बातें करने को जी चाहा," मिस्टर वर्मा ने पेस्ट्री के एक टुकड़े को तोड़ते हुए कहा। "मगर हर बार आपको देखकर डर गया। आप, क्या नाम, न जाने क्या कहें, क्या समझें?"

"क्यों, क्या मैं ऐसी डरावनी हूं?" उर्मिला ने पूछा। उसे बातों में रस आने लगा था, जिसे वह अब भी स्वीकार नहीं करना चाहती थी।

"जी, डरावनी तो नहीं, मगर, क्या नाम, कठोर जरूर हैं। आपको याद है, वह पहला दिन जब आप मेरे पास आई थीं? उसी दिन से बराबर मैं इंतजार में था, क्या नाम, कि आप मौका दें, तो अर्ज करूं···मगर···"

उर्मिला को हंसी आ गई। "आप सचमुच बातें करना बहुत जानते हैं, मिस्टर वर्मा···"

"देखिए, मुझे मिस्टर वर्मा न कहा करें—कम से कम यहां तो बिलकुल नहीं।"

"फिर क्या कहूं?"

"जगदीश···सिर्फ जगदीश। और क्या नाम, दूसरी बात, मुझे बातें करनी बिलकुल नहीं आतीं। हां, तो मैं कह रहा था, उसी रोज से मैं इंतजार में था कि आप मौका दें, तो कुछ अर्ज करूं। आज चार महीने बाद आपने मौका दिया है।"

"मैंने मौका नहीं दिया, मिस्टर वर्मा—ओं, जगदीश—आपने मौका बनाया है।" उर्मिला को अब सचमुच यह शख्स दिलचस्प लग रहा था।

"खैर, आप जैसा भी समझ लीजिए। आपने आना स्वीकार तो किया। आप शायद नहीं जानतीं, उर्मिला जी, आदमी कितना अकेला महसूस करता है, कितना असहाय और अतृप्त। घर पर बूढ़ी मां है, बहन है,···और, क्या नाम, बस दीवारें हैं। उनके बीच कैसी घुटन महसूस होती है, यह आप समझ सकती हैं। तभी मैं जितनी देर हो सके, दफ्तर में ही बैठना पसंद करता हूं। इस तरह निराशा-भरी उदासी से तो दूर रहा जा सकता है।"

"मेरे ख्याल में आप भूलते हैं, मिस्टर व···-जगदीश। भागने से किसी चीज से नहीं बचा जा सकता, उसका सामना करने से ही बचाव हो सकता है।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"मानता हूं, उर्मिला जी, मगर एकांत से लड़ना मेरे बूते का नहीं है। मुझे ऐसा लगता है जैसे मैं टूटकर बिखर जाऊंगा—मुझे आदमी के विश्वास की, उसकी चाह की ज़रूरत है। साथ हो, तो कोई भी मुश्किल आसान है, कोई भी समय अनंत है।"

वे चाय पीते जा रहे थे और बातें करते जा रहे थे। "आपने समोसा नहीं लिया," जगदीश ने कहा। "यह खट्टी चटनी लीजिए, आपको पसंद आएगी।"

उर्मिला ने चाय का एक घूंट भरा और प्याला परे सरका दिया। उसकी आंखों में असीम करुणा छलक उठी, न जाने क्यों, उसे कुछ अद्भुत-सी अनुभूति हुई जिसे वह समझ नहीं सकी। कुछ क्रोध, कुछ दया, कुछ खीझ, कुछ असंतोष। सभी भावनाएं गड़बड़ उमड़ती-घुमड़ती रहीं। एकाएक बैंड फिर शुरू हो गया और उसकी धुन की उच्छृंखलता में उर्मिला की चेतना बह निकली। खीझ की जगह समझ ने ले ली—क्रोध की जगह करुणा ने। वह धीमे से मुस्कराई, और उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उसकी अपनी मुखमुद्रा के परिवर्तन पर जगदीश के मुख के भाव भी बदल गए। उसके चेहरे का तनाव कम होकर लोप हो गया और फिर एक खुली मुस्कराहट वहां फूट पड़ी।

"हां, जगदीश जी, ऐसा भी होता है। आदमी का जीवन एकांत में नहीं पनपता, उसे साथ की आवश्यकता होती है। पौधे को धूप चाहिए, मगर साथ ही पानी भी चाहिए। धूप उसे पकाती है, पानी उसमें रस पैदा करता है। पौधे के लिए दोनों जरूरी हैं—केवल समय की बात है।"

जगदीश मुस्करा उठा। उसके सोने के दांत की झलक उर्मिला को भली लगी। उसने आंखें फेर लीं।

इसके बाद वे दोनों दफ्तर के बाहर कई बार मिले, कई बार इकट्ठे बैठकर उन्होंने बातें कीं। उर्मिला को न जाने क्यों जगदीश से बातें करके आत्म-तुष्टि का भास होता; उसके साहचर्य में उर्मिला के विचार शब्दों में बंधकर, सज-संवर कर प्रकट होते तो उसे अपने ऊपर ही आश्चर्य हो आता। जगदीश का साथ उर्मिला को स्फूर्ति देता, उसके व्यक्तित्व को निखारता चला गया। और जगदीश हैरान और परेशान निगाहों से इस लड़की को देखता रहा, उसकी बातें सुनता रहा, उन गूढ़ बातों के अर्थों को ईमानदारी से समझने की चेष्टा करता रहा।

एक दिन जगदीश और उर्मिला दफ्तर से निकले तो जगदीश काफी चुप था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उर्मिला ने कहा, "चलिए, आज इंडिया गेट चलकर बैठेंगे। रेस्तरां में बैठने का मन आज नहीं है।"

"चलिए।" जगदीश ने कहा और वे दोनों चलते गए। बस में बैठे, टिकट लिए, बस से उतरे और घास के मैदान के किनारे-किनारे टहलते इंडिया गेट के पास पहुंच गए।

उर्मिला ने गहरी सांस ली, जैसे हवा की सारी स्फूर्ति अपने भीतर ले लेना चाहती हो। जगदीश ठंडी हवा के एक तेज़ झोंके में कांप-सा गया। कोट का कालर उसने मोड़ लिया ताकि गले में सर्दी न लग जाए।

दिन और रात के मिलन पर बत्तियों का प्रकाश व आसमान की गहरी होती नीलाहट, दोनों में एक अजीब-सी स्वप्निलता थी। एक बैंच के पास से वे गुज़रे तो एक अधेड़ जोड़ा एक दूसरे की कमर में हाथ डाले बैठा था। चलते-चलते अनायास ही जगदीश उर्मिला के पास हो गया और उसने उर्मिला का हाथ थाम लिया, उंगलियों में उंगलियां फंसा लीं।

उर्मिला की सांस में एक पल के लिये एक अजीब-सी गर्मी आ गई; उसका जी चाहा वह जगदीश के और भी पास सरक जाए। मगर उसने आहिस्ता से जगदीश के हाथ से अपना हाथ निकाल लिया और दूर-दूर चलने लगी।

जगदीश ने काफी देर कुछ नहीं कहा। फिर चलते-चलते वे बड़े पेड़ के नीचे पड़ी बैंच के पास पहुंच गए।

दोनों बैठ गए। बाईं ओर तीस गज़ की दूरी पर एक बत्ती जगमगा रही थी। अंधेरा लगभग पूरा उतर आया था। "आज तुम बोल नहीं रही? क्या नाराज़ हो?" जगदीश ने पैर फैलाकर कहा।

"नहीं तो, मेरा ख्याल था आप कुछ चुप हैं। इसीलिए चुप रही कि खामोशी से जी भर जाए तब कुछ कहूं। साड़ी का पल्ला उर्मिला ने स्वेटर चारों ओर कसकर लपेट लिया।

"सर्दी लग रही है, तो पास आ जाओ"—जगदीश ने उसका हाथ एक बार फिर थाम लिया और वह मुस्करा दिया। दांत का सोना अंधेरी होती शाम में चमक दिखाकर ओझल हो गया।

उर्मिला ने अबके अपना हाथ नहीं खींचा। वह चुपचाप बैठी रही। चारों ओर की खामोशी में केवल एक बार पंछियों की फड़फड़ाहट पेड़ की ऊपरी शाखाओं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पर हुई; जगदीश उर्मिला के ज़रा पास सरक आया।

कारों की तेज़ बत्तियां एक दूसरे को भेदतीं, तलवार की तरह काट करतीं दूर मोड़ पर अपना खेल दिखाती रहीं।

जगदीश का हाथ उर्मिला के कंधे पर आ रहा और उसकी आवाज़ में कुछ अटक-सा गया। "उर्मिला !"

सांस छोड़कर उर्मिला ने अपना बदन भी ढीला छोड़ दिया। जगदीश का हाथ कुछ देर के लिए उर्मिला ने कंधे पर निश्चेष्ट रहा। फिर वह कंधे से नीचे उतर गया।

"आप बहुत नटखट हैं।" उर्मिला ने जगदीश का हाथ पकड़ लिया।

जगदीश ने अपना हाथ नहीं छुड़ाया। दूसरे हाथ से उर्मिला का चेहरा घुमाकर उसने ठोड़ी पकड़कर ऊपर उठाया और फिर बहुत बेचैन स्वर में वह बोला, "अब नहीं रहा जाता, उर्मी। अब तुम्हारे बिना नहीं रहा जाता।"

उसके स्वर का दर्द उर्मिला को न जाने कैसा कर गया। आर्द्र होकर उसने कहा, "तुम्हें यह क्या हो गया है जगदीश ?"

जगदीश की बांहें उर्मिला के गिर्द कस गईं। उर्मिला बांहों की उस कैद में एकाएक पिघल गई। जगदीश ने अपना चेहरा उसकी छाती में गाड़ दिया। शरीर की गर्मी में घुली उसकी सांस उर्मिला के दिल की बढ़ती हुई धड़कन में समा गई।

"नहीं, उर्मिला, नहीं।" जगदीश का सिर उर्मिला के आंचल में बेचैनी से छटपटाया। "अब नहीं रहा जाता, उर्मिला। तुम्हारे बिना अब नहीं रहा जाता।"

उर्मिला के दिल की तेज़ होती हुई धड़कन एकाएक कम हो गई। जीवन की सारी समझ, शरीर की समस्त पीड़ा, जवानी की तमाम तमन्नाएं उसके हृदय में मूर्त्त हो उठीं। नहीं, वह अपने स्वार्थ के लिए किसीको कष्ट नहीं देगी। अगर वह जगदीश की इस तड़प को कम कर सकती है, उसके दुःख को हर सकती है, उसके रीते जीवन को तनिक-सा भर सकती है, तो वह यह सब ज़रूर करेगी। पुरुष की इस सिहरन को, इस छटपटाहट और कराह को नारी अपने ऊपर झेल लेगी।

उर्मिला के होंठ कस गए। उसने अपनी बाहें जगदीश के गिर्द डाल दीं। उसके उलझे बालों में अपनी नाक गाड़ दी। उसका स्वर स्नेह से पसीज उठा। "नहीं, जगदीश, नहीं। इतने बेचैन नहीं होते। मैं तुम्हारी हूं···तुम घबराते क्यों हो ?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मैं तुम्हारी ही तो हूं···तुम्हारी···तुम्हारी···"

और फिर वह दिन आया जब उर्मिला ने पहले-पहल अपने-आप में शर्म और अभिमान और असीम आनंद की मिली-जुली अनुभूति महसूस की। और अगली बार जब वह जगदीश से एकांत में मिली, तो उसकी बांहों में अपने को निश्चेष्ट छोड़कर उसने कहा, "बूझो तो, जगदीश ? आज मैं तुमसे क्या कहने वाली हूं ?"

जगदीश का सोने का दांत शाम के अंधेरे में तारे की तरह चमक उठा। उसकी आंखों में झांककर, उर्मिला ने जगदीश के कौतूहल को पढ़ा और फिर ताली बजाकर वह हंस पड़ी।

"क्या नाम, तुम क्या कहने वाली थी ?" जगदीश की आवाज़ उसके गले में फंस रही थी और उसकी बांहें उर्मिला के शरीर के गिर्द कसती जा रही थीं। उर्मिला की हंसी-ठट्ठे की यह आदत उसे बेहद पसंद थी।

"नहीं कहूंगी।" उर्मिला ने कहा और फिर जान-बूझकर अपने होंठ समेट लिए। ठंडी घास और हवा का एक सुखद झोंका···और फिर नीरव शांति। जगदीश और उर्मिला चुप थे, मगर उनके बीच एक तादात्म्य स्थापित था, जिसे तोड़ने की इच्छा दोनों में से किसीको भी न थी।

एकाएक जगदीश ने अपना सिर उर्मिला की गर्दन के नीचे गाड़ दिया। खिलखिलाकर उर्मिला उसकी बांहों से निकल गई। वह घास पर लेट गई और जगदीश के हाथ उसके कंधों पर जा पड़े। जगदीश के चेहरे की ओर देखती हुई बोली, "तुमपर अब बोझ पड़ने वाला है।"

और फिर वह रुक गई।

जगदीश के हाथ यद्यपि उसके कंधों पर ही थे, मगर उनका बोझ एकाएक हट-सा गया। उर्मिला ने महसूस किया, जगदीश की सांस में बेचैन-सी तेज़ी आ गई है। और यद्यपि वह अंधेरे में उसकी आंखें न देख सकती थी, फिर भी इतना वह जान गई कि उसकी आंखें इस वक्त सभी भावों से रिक्त हो गई हैं—जैसे भरा प्याला एकाएक खाली हो जाए।

मगर फिर न जाने किस घबराहट में उर्मिला ने अथाह पानी में डुबकी ले ही ली। "बोझ अब पड़ने ही वाला है, जगदीश। अब तुम्हें कुछ बंदोबस्त करना पड़ेगा, ताकि हम···"

जगदीश ने एक गहरी सांस ली। फिर उसके हाथ उर्मिला के कंधों से हट गए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

फिर हवा का सुखद स्पर्श उर्मिला के दम को घोटने लगा। जगदीश की आवाज़ दफ्तर की आवाज़ में बदल गई थी, "तुम तो जानती हो, उर्मिला, मैं कितना मजबूर हूं ···" और फिर घर की परिस्थिति, मां की असहायता, बहन की शादी का सवाल, और बहुत-सी घिसी-पिटी दलीलें जगदीश देता गया जैसे कुर्की का क्लर्क चीजों की फेहरिस्त बोलता जा रहा हो। उर्मिला ने सुनकर भी कुछ नहीं सुना। जगदीश का हाथ उसके कंधों से उठ गया था। अब किसी बात की गुंजाइश न थी—न कुछ कहने की, न कुछ सुनने की।

और अब उस बात को दो महीने हो चुके थे। काम पर वह रोज़ जाती थी, जगदीश के सैक्शन में ही काम करती थी—मगर रहती वह उससे बहुत दूर थी। अब फाइलों के कागज़ सूखे पत्तों की तरह थे जिनमें कोई ताजगी नहीं थी, कोई चिकनाहट नहीं थी, कोई जीवन नहीं था। केवल कागज़ थे जिन्हें लिखावट से भरकर कर्त्तव्य पूरा करना होता था—और बस।

सेक्रेटेरिएट की ओर जाती हुई बस में बैठी उर्मिला के मस्तिष्क में सारी की सारी स्मृतियां एक-दूसरी को ठेलती हुई गुजर गईं। और फिर वह एकाएक जान गई कि असंतोष क्यों उसके भीतर पंख झटक रहा था, बेचैनी क्यों उसके दिल में गहरी उतरती चली जा रही थी।

जगदीश की रीती आंखें, उसका भावशून्य चेहरा, उसकी मां और बहन का घुटा-रूखा स्नेहरिक्त व्यवहार—इन्हीं सबके लिए ही क्या वह मां के साथ जा रही है? उम्र-भर के लिए खुली हवा में सांस लेने का अपना हक बंधक रखने के लिए वह पिंजरे की ओर बढ़ रही है जहां सिर्फ दाना-पानी और समाज की स्वीकृति है, और कुछ नहीं।

नहीं, वह जगदीश के साथ सिर्फ इसलिए नहीं बंधेगी कि उसने भावना में बहकर अपने शरीर में उसका बीज धारण किया है। नहीं, आत्मा की आज़ादी को वह शरीर के पिंजरे में बंद नहीं होने देगी। हरगिज़ नहीं होने देगी।

बस सेक्रेटेरिएट के पास पहुंच रही थी। तेज धूप अब बादलों की ओट में चली गई थी। गर्मी की बेचैनी में अब एकाएक ठंडक आ गई थी। नमी से भरी हवा का एक झोंका उर्मिला की सारी बेचैनी को हर ले गया। और फिर···

"देखो मां, पानी बरसने लगा। कितना सुहाना मौसम हो गया है।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मां ने गंभीरता से बेटी की बात का अनुमोदन किया, केवल सिर हिलाकर। सचमुच नन्ही-नन्ही बूंदों की बौछार बस की खिड़की पर रखी उसकी बांह पर गिर रही थीं।

एकाएक गड़गड़ाहट के साथ आसमान फट पड़ा। मां खिड़की से थोड़ा सरक गई। सेक्रेटेरिएट का ऊंचा भव्य भवन वर्षा की झालर के पार कितना भला लग रहा था। बस आकर दफ्तर के पास रुक गई, मगर लोग उतनी जल्दी नहीं उतर रहे थे जितनी जल्दी और दिन उतरा करते थे। बारिश तेजी से गिर रही थी; छतरियां लिए एक-दो व्यक्ति अन्य लोगों को पार करके उतर गए। फिर इक्का दुक्का लोग सिर पर रूमाल अथवा अखबार रखे उतरे और पेड़ों की तरफ अथवा बस स्टैंड के शैड की तरफ भागे।

उर्मिला और उसकी मां सबके बाद उतरे। उर्मिला अब बिलकुल शांत थी, पानी की बौछार से जैसे उसका हृदय भी शीतल हो गया था। वर्षा फिर नन्ही बूंदों में गिर रही थी।

"मां", उर्मिला ने एकाएक कहा। "मां, अब तुम जाओ। मैं तुम्हें बस में चढ़ाए देती हूं, घर आए तो उतर जाना।"

मां ने बेटी के चेहरे की तरफ हैरानी से देखा। उसके मुंह पर पानी की बूंदें चमक रही थीं, बालों में वर्षा के मोती गुंथ रहे थे। और उसकी आंखों में कठोरता नहीं मुस्कान थी, दुख नहीं प्रसन्नता थी। "मगर बेटा" उसने घबराकर कहा। "मगर बेटा, मैं तो अपने काम से यहां आई हूं। काम पूरा किए बिना मैं कैसे चली जाऊं?"

"काम नहीं होगा, मां। काम हो जाएगा।"

"मैं तुम्हारा मतलब नहीं समझी।"

"तुम जाओ, मां, तुम जाओ।"

मां और बेटी अब गोल तालाब के पास पेड़ के नीचे आ पहुंची थीं। एक बस आकर सड़क के उस पार खड़ी हो गई, तो उर्मिला ने मां का हाथ पकड़कर उसे सड़क पार कराई और फिर धकेलकर उसे बस पर चढ़ा दिया। बस में मां के सिवाय केवल एक आदमी और था।

बस चली गई तो नम ठंडी हवा में उर्मिला ने गहरी सांस ली—इतनी गहरी कि उसकी छाती दुखने लगी। वह बहुत खुश थी—बहुत खुश।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अपनी भूल का वह कुछ न कुछ प्रबंध कर ही लेगी। विज्ञान के इस युग में ऐसे अनेक उपाय हैं जो स्त्री के दुख को हलका कर सकते हैं। न जाने क्यों और कैसे उसे पहले खयाल ही नहीं आया कि केवल एक छोटी-सी भूल के कारण—किसीपर दया करने के कारण—यह जरूरी नहीं था कि वह जीवन-भर के लिए पिंजरे में बंद हो जाए।

फिर वह अपनी जीविका खुद कमाती थी। अपना खर्च जीवन-भर वह आसानी से चला सकती थी।

छुट्टी लेकर वह कुछ दिन के लिए कहीं चली जाएगी। अपनी भूल का समाधान करके वह घर लौट आएगी। वहां···

खैर, अभी सोचने को बहुत दिन पड़े थे। फिलहाल तो बस, वह आज़ाद थी—वर्षा की फुहार में, ठंडी हवा के झोंकों में, नीले आकाश की गहराइयों के नीचे वह आज़ाद थी—बिलकुल आज़ाद !

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ध्वंस

नल के हत्थे पर दीना के हाथ कुछ देर रुके रहे। पानी की धार बूंदों में बदल गई और फिर पानी की अन्तिम बूंद नल की मोटी परिधि पर लटक गई।

रसोई बन्द थी। उपले और लकड़ी की कोठरी का दरवाजा उढ़का हुआ था। सुनसान आंगन फिर भी आवाज़ों से जीवित था।

बाईं ओर के बड़े कमरे में से आता दीना की मां का तीखा स्वर आ रहा था। "घर-गृहस्थी की बातों में जल्दबाज़ी नहीं करते, चन्दो!..."

दीना ने अपने कान उस ओर से बन्द कर लिए। उसकी मां कुछ चाचियों-मौसियों से निरर्थक-सी बातें कर रही थीं। कमीज़ की बांह से दीना ने अपना मुंह पोंछा, हाथों के पानी को झटककर उनींदी आंखों पर मल लिया। अभी-अभी मां की रिश्ते की बहनें आई हैं—अब शाम तक यही चांय-चांय चलेगी। सोने भी नहीं दिया दीना को; आज इतवार था फिर भी।

दीवार से टिकी साइकिल दीना ने उठाई और गली के दरवाजे के पास आकर रोक दी। चन्दर के पास चला जाएगा; कुछ पढ़े-लिखेगा। न होगा, शाम को खेतों में घूम-फिर तो आएगा ही।

उसने कील पर लटके अपने बस्ते में से दो कापियां निकालीं और चाचियों-मौसियों की ओर घूमकर चिल्लाया, "मैं चन्दर के यहां जा रहा हूं, भाई!" अंदर की चांय-चांय में कहीं कोई दरार नहीं आई। जैसे उसकी आवाज पानी की सतह पर एक तिनके से अधिक न हो। दीना ने कापियां साइकिल के पीछे कैरियर में खोंस दीं और गली में आ गया!

अलस शांत दोपहर में गली भी अलस शांत थी। ईंटों बिछी गली के दोनों ओर नालियों में पानी सूख गया था। घरों की ईंटों की लम्बी सपाट दीवारों में कहीं कोई खिड़की थी भी, तो काफी ऊंची और छोटी। वरना ऐसा लगता था

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जैसे लम्बी दीवारों के बीच गली भी एक आंगन ही हो !

"मंगला मौसी कहां चली ?" दीना ने मौसी को घर से बाहर निकलते देखकर पूछ लिया ।

झुककर मौसी ने दरवाज़े का कुंडा लगाया और ताला जड़ दिया । फिर चादर लपेटकर खड़ी होती हुई बोली, "यहीं, पुरियों की गली को जा रही हूं ।" और फिर वह उसकी कापियां देखकर बोली, "पढ़ने जा रहा है तू ?"

"हां मौसी !" दीना ने कहा और आगे बढ़ गया । एकाएक गोबर और पेशाब की बू बढ़ गई और उसने नाक बन्द कर ली, सांस रोक ली । दीवानचन्द के घर से हमेशा ऐसी ही बू आती है, तब भी जब भैंसें चरने के लिए बाहर जा चुकी होती हैं । कभी सफाई नहीं करते । गली का दरवाज़ा भी बन्द नहीं करते ये लोग ।

और गली से बाहर आते ही, वह एकाएक बाज़ार में पहुंच गया । कुंदा हलवाई की धुएं से काली, लगभग खाली दुकान में सिर्फ जलेबी की लगभग खाली थाली धरी थी । मंगू लुहार की दुकान से आती ठकठक दोपहर की अलस से ढकी थी । चूड़ियों की दुकान और पंसारी की दुकान और अत्तार चाचा की दुकान और···

दीना झट से एक गली में मुड़ गया । वह अपने पिता की बजाजी की दुकान के सामने से कभी नहीं निकलता । कोई कारण नहीं है, बस नहीं निकलता ।

वह साइकिल पर चढ़ गया । आड़ी-तिरछी गलियों से सड़क और सड़क की कोठियों से परे फिर गलियों का जाल । कस्बे में नये आनेवाले के लिए यह जाल गोरखधंधा हो सकता था, मगर दीना के लिए सब साफ-साफ था । वह यहां का चप्पा-चप्पा अपनी हथेली की तरह जानता था ।

दीना ने साइकिल ठीक चन्दर के दरवाज़े पर आकर रोक दी । सांकल उठाकर गिराई और फिर पैंडल पर पैर रखकर वह प्रतीक्षा करने लगा । सामने मैदान में कहीं कौओं का एक झुंड पेड़ों की फुनगियों पर कांव-कांव कर उठा और एक कुत्ते के पीछे से धूल का हल्का-सा बादल उठा और बैठ गया ।

कुछ देर बाद अन्दर से धीमी-सी आवाज़ आई, "कौन ?"

"मैं दीना हूं ।" दीना ने पैंडल उलटा घुमा दिया । जैसे सारे जहान का समय उसे हो । कहीं कोई जल्दी नहीं । मंडी में तो वह नहीं था, जहां हर जगह जल्दी होनी चाहिए ! वह तो अकेला था ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दरवाज़ा खुल गया। दीना ने उतरकर साइकिल उठाई, दरवाज़े के भीतर करके दीवार के साथ सटा दी और आवाज़ लगाई, "चन्दर !"

आवाज़ के जवाब में एक खामोशी। आंगन के पास कोठरी में एक हल्की-सी हलचल। "अरे दीना, तू है ? आ बैठ।"

दीना ने कोठरी के भीतर झांककर कहा, "क्यों भाभी, चन्दर नहीं है क्या ?"

भाभी हंस पड़ी। बंती भाभी हंसती नहीं, फिर भी आज वह हंस रही थी। उसने दीना का हाथ पकड़कर उसे चारपाई पर बिठा दिया, "अरे चन्दर नहीं है, तो क्या हुआ ? बंती बुरी लगती है क्या ?"

चारपाई पर बैठकर दीना ने देखा, बंती सामने खड़ी मुस्कराए जा रही है। उसकी गन्दी सफेद सलवार और चाकलेटी कमीज़ और उलझे बाल और इन सबसे अलग हँसती आंखें। एकाएक दीना शरमा-सा गया। उसने नज़रें झुका लीं।

"क्यों, जवाब क्यों नहीं देता ? बंती बुरी लगती है क्या ?"

"नहीं भाभी ! तुम ऐसी बातें क्यों करती हो ?"

"तो बता, कैसी बातें करूं ?" और वह धम्म से दीना के पास चारपाई पर बैठ गई।

दीना को न जाने कैसा-सा लगा। पहली बार भाभी उसके पास इस बेबाकी से बैठी थी। भाभी को वह बहुत दिनों से जानता था; तब से जब वह घूंघट काढ़े, गोटे-तिल्ले के लाल गुलाबी कपड़ों में लिपटी, मोज़ों में ढके पैरों को गुरगाबी में डाले इस घर में आई थी। आठ बरस पहले, जब दीना छः-सात का था, उसे भाभी इतनी प्यारी लगी थी, इतनी प्यारी लगी थी कि बस वह देखता रह गया था। उस दिन वह चन्दर के साथ-साथ उसके साये की तरह कमरे-कमरे घूमा था। और चन्दर को उस दिन भाभी के साथ रहने, उसे तंग करने, उसके लाल चूड़े और मेंहदी लगे हाथों को देखने, उसकी गुलाबी गालों की गर्माई महसूस करने के सिवा और कोई काम नहीं था। और इन सब कामों में दीना बदस्तूर उसके साथ रहा था।

बंती भाभी को वह सिर्फ भाभी के नाम से जानता था। और कहीं भी किसी-के मुंह से 'भाभी' शब्द सुनकर उसके दिमाग में बंती की वह तसवीर उभर आती थी। कितना लाल रंग था उसके चेहरे का ! कितनी हंसती थीं उसकी आंखें ! कितने सुन्दर थे उसके होंठ ! और जब वह चलती थी, तब उसे न जाने कैसा-कैसा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लगता था। जैसे वह ज़मीन कितनी खुशकिस्मत थी जिसपर वह चल रही थी। कैसे अच्छे थे वह पांव !

मगर फिर साल बीतते न बीतते उसने वंती का दूसरा रूप देखा था। आंखों में आंसू भरे वंती। कोने में बिसूरती वंती। गालियां खाती वंती—"दस महीने में ही स्वरूप को खा गई, रांड जा, मुंह काला कर।" और चन्दर का दीना को अलग खींचना, "चल बाहर चल, कहीं तालाब पर बैठकर पढ़ेंगे।"

और यहां, वहां, कभी-कदास वंती की झलक। खाना बनाते हुए, झाड़ बुहारते हुए, बर्तन मांजते हुए, कपड़े धोते हुए। लम्बे साफ़ बालों में गुलझट, शोख आंखों में दर्द-भरी खामोशी, और चाल में लाश का एक वीरानापन।

मगर इस बेबाकी से भाभी दीना के पास पहले कभी नहीं बैठी थी। पहले तो खैर औरों के साथ उससे भी वह शरमाती थी, उसकी तरफ देखकर भी न देखती थी। फिर बाद में उसको अपनी छाया से भी डर लगने लगा था, वह दीना और चंदर के पास कैसे आ सकती थी ?

इन सबसे अलग एक और ही अनुभूति दीना को भाभी के इस आज के रवैये से हो रही थी। भाभी के इतने समीप बैठने पर उसे कुछ डर लग रहा था। कुछ गरमी लग रही थी। कुछ ऐसा लग रहा था कि ··कि वह भीतर ही भीतर चाह रहा था कि भाभी उसीके पास, इतनी ही करीब बैठी रहे ··बैठी रहे···बैठी रहे···

"बता न ?" वंती ने फिर कहा, और न जाने किस उतावली से उसने दीना का हाथ अपने हाथों में ले लिया। "कैसी बातें करूं, दीना, तू ही बता न ? चंदर को मां जी मेरे पास फटकने नहीं देतीं। सरस्वती, दीपो, चम्पा, मुझे बात-बात पर तीनों ननदें फटकारती हैं। और जब कभी हंस-बोल का बखत होता है—ढिंढोरा पिट जाता है : वंती के साये से बचकर चल। वंती को कह, उधर ही रहे। वंती की रोटी उसकी कोठरी में ही रख आ। जैसे वंती कोई लाश हो जिसे हंस-बोल नहीं सुहाता, जिसे चूड़ियों की खनक भली नहीं लगती, जिसे मिस्सी से दांत चमकाना बुरा लगता है···जिसे···

दीना ने अपना हाथ भाभी के हाथों से खींच लिया। वह भाभी के हाथों की पसीज से गीला हो चुका था और वह चाहता था, भाभी ऐसी बातें न करे और उसका हाथ आज़ाद रहने दे।

"भाभी !" दीना ने कहा जैसे शिकायत कर रहा हो, जैसे वंती को चेता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

रहा हो।

"अरे हां, दीना, तू ठीक कहता है। भाभी का दिमाग चल गया है। पानी तक को पूछा नहीं, और अपने सारे दुःख रोने बैठ गई। तू बैठ, मैं अभी आती हूं।"

दीना जैसे कोठरी में कैदी की तरह बैठा रह गया। भाभी टीन खोल रही थी, बंद कर रही थी। दीना चाहता था, वह भाग जाए, अब और अधिक देर यहां न रहे। भाभी पानी का गिलास भर रही थी। दीना चाहता था, भाभी आए तो वैसी बातें न करे। भाभी के कदमों की आहट पास आ रही थी। दीना चाहने लगा, भाभी की आंखें हंसती हुई उसके सामने दिप-दिप जलती रहें।

भाभी ने आकर कटोरा उसके हाथ में दे दिया। "ले दीना, खा। मैं पानी लिए बैठती हूं।" और वह वहीं ज़मीन पर बैठ गई।

दीना ने कटोरे में देखा। इमरती और लड्डू और मठरी और अचार। दीना ने दोपहर को डटकर खाया था, फिर भी उसके मुंह में पानी भर आया। उसने मठरी का एक टुकड़ा तोड़ा और अचार की फांक से छुआकर मुंह में डाल लिया।

दीना चुपचाप खाता रहा, और जब कटोरा खाली हो गया तो उसने आंखें कटोरे से उठाईं। भाभी के हाथ में पानी से भरा गिलास था, और भाभी की गर्दन के नीचे भरी छातियों का आभास। दीना के गले में न जाने क्या अटक गया।

"ले!" भाभी ने गिलास आगे बढ़ा दिया।

पानी उसके गले से नीचे उतरता गया और साथ ही उसके दिल की धुकधुकी न जाने क्यों शांत होने की बजाय तेज़ होती गई। वह उठकर खड़ा हो गया, "अच्छा भाभी, चलता हूं। चंदर आए, तो कह देना, दीना आया था।"

"चंदर आज सबके साथ फिलम देखने गया है। शाम को देर से लौटेगा।" भाभी न जाने क्यों मुस्करा पड़ी। "कुछ देर बंती के पास बैठ ही जाएगा, तो क्या बिगड़ेगा तेरा?" भाभी की दोनों बाहें कटोरा और गिलास थामे निश्चेष्ट पड़ी थीं, मगर गर्दन के नीचे के उभार से दीना की नज़रें न हटती थीं। भागने की उतावली के बावजूद उसके पांव ज़मीन में जम गए थे। वह मजबूर, भाभी की गदराई देह के चमत्कार से बंधा एक बार फिर बैठ गया। चारपाई की अदवायन चरमराकर शांत हो गई।

कटोरा और गिलास लिए भाभी उठी और दीना ने उसके रूखे बालों को अपने नज़दीक आते महसूस किया। भाभी की आंखों में शरारत की शोख हंसी छलकी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और फिर उसके सीने के उभार दीना के इतने पास आ गए कि उसका मन हुआ वह अपना चेहरा उनमें गाड़ दे—बाहें पकड़कर खींच ले भाभी को।

भाभी मुड़कर उसकी ओर देखती, मुस्कराती, कोठरी से बाहर निकल गई।

दीना ने चैन की सांस ली। उसके माथे पर पसीने की बूंदें उभर आई थीं। उसकी भीगी मसें भी नन्ही बूंदों से भर रही थीं। यह उसको क्या हो गया था? वह कुछ नहीं समझ पा रहा था। कुछ नया-नया-सा उसके भीतर जाग रहा था —मीठा-कड़वा स्वाद उसके मुंह में घुल रहा था। बिल्ली के सामने पड़ जाने से कबूतर की जो दशा होती है, वही दशा दीना की हो गई थी। न भागते बनता था, न बैठते।

भाभी लौट आई, और बिना उसकी ओर देखे, अपने पहले स्थान पर बैठ गई। फिर आंखें ऊपर उठाकर उसने भरी दृष्टि से दीना की ओर देखा। "गरीब भाभी का तुम्हें ज़रा-सा खयाल भी नहीं है? तुम हमेशा तो ऐसे नहीं थे?"

यह तथ्य भी था, शिकायत भी थी, प्रार्थना भी थी। सब कुछ ऐसा गडमड कि एक भावना को दूसरी से अलग करना सम्भव नहीं था।

भाभी का गोरा-चिट्टा रंग। लम्बी बरौनियों के नीचे बड़ी-बड़ी आंखें। दाहिने कान की लव पर मूंग की दाल-सा तिल। गर्दन और कन्धे की संधि पर एक आवे-पौन इंच का तिकोना निशान। एकाएक आठ वर्ष पुराना भाभी का दुलहन का रूप दीना के सामने रह गया। आज की गंदी सफेद सलवार और चाकलेटी कमीज़ वाली बंती, उलझे गुलझट बालों वाली बंती, थकी-हारी, मौत के साए में चलने वाली बंती वहां नहीं रही। और दीना भी वही दीना बन गया—नन्हा-सा चंचल दीना। और उसने भोलेपन से कहा—"भाभी, तुम कितनी अच्छी लगती हो। तुम्हारे पास बैठकर मुझे ब-हो-त अच्छा लगता है।"

और भाभी ने आंखों में न जाने क्या भर कर कहा, "अच्छा दीना!" क्योंकि उसपर भी वह पुराना जादू लौट आया था जब शादी से पहले केवल ने अपने चौड़े-चुस्त माथे पर भटकी लटों से झांककर उसकी ओर देखा था—और उसकी चुनरी को पकड़कर खींच लिया था—और न चाहने पर भी वह उसकी बांहों में खिंच आई थी।

और बस्ती का वह वीरानापन व अलगाव, मंडी में आने वाले किसानों की भीड़ की शाम को रवानगी, बैलगाड़ियों पर लदे नौटंकी की गाड़ियों का आकर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कुछ दिन बाद फिर चला जाना, सभी द्वारा दुरदुराए जाकर जीवन के प्रति आस्था की लुटी डोर का फिर से थम जाना। भाभी के गाल एकाएक तमतमा आए और दीना को न जाने क्या हुआ कि उसने बढ़कर भाभी का हाथ पकड़ लिया—मगर पेश्तर इसके कि वह उसे खींच ले, भाभी उसके पास खुद।बखुद खिंच आई।

न जाने कब और कैसे दीना का सिर भाभी के सीने पर जा लगा। और भाभी की उंगलियां दीना के बालों में गहरी उलझ गईं। चारपाई की पाटी पर बैठे वे दोनों देवर और भाभी कहीं बहुत भीतर मात्र पुरुष और स्त्री रह गए। दीना के शरीर की शिराएं खून के तेज़ संचारण से बज उठीं—और उसके भीतर का वह कड़वा-मीठा दर्द इतना तीव्र हो उठा कि वह उसे सहन करने में असमर्थ हो गया।

मगर भाभी की बांहें उसे थामे रहीं, भाभी के बदन की लचकीली गर्मी उसे बांधे रही, भाभी के सीने के गदराए उभार उसे पागल बनाए रहे।

एकाएक उसने घुटती सांस को पुनः प्राप्त करने की बहुत कड़ी कोशिश से सिर उठाकर भाभी के चेहरे की ओर देखा। और वहां जो कुछ उसने देखा उससे वह सकते में आ गया।

भाभी की आंखें फैली थीं, उसके नथुने फूल रहे थे, उसके गर्दन और कंधे की संधि पर चोट का निशान लाल फूल की तरह गमक उठा था। वह पागल-सी लग रही थी—इतनी भयानक कि दीना छिटककर दूर जा खड़ा हुआ। "भाभी! तुम्हें क्या हुआ है, भाभी?" दीना के गले का स्वर इतना तीव्र, इतना दबा हुआ था कि वह फुसफुसाहट से अधिक न बन पाया।

बंती ने कुछ नहीं सुना। चारपाई की पाटी से उठकर वह खड़ी हो गई। दुपट्टा उसके सिर से सरककर ज़मीन पर जा गिरा। कमीज़ का गला नीचे सरक गया और सीने के उभारों का बीच का गड्ढा बिछलकर सामने आ गया। उसके मोटे पूर्ण युवा होंठों पर एकाएक मनमोहक मुस्कराहट खेल गई।

एक पल के लिए दीना को लगा, कुछ क्षण पहले जो डरावना चेहरा उसने देखा था, वह केवल उसके अपने पागल दिमाग की उपज था। भाभी बड़ी प्यारी दिख रही थी। भाभी मुस्करा रही थी। भाभी उसके समीप आ रही थी। उसे बांहों में ले रही थी।

दो कदमों में ही भाभी उसके पास आ गई थी। दीना दो कदम पीछे हटा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अब दीवार उसके पीछे कठोर थी, उसकी पीठ को छील रही थी। मगर भाभी का नर्म, कठोर गद्दर शरीर उसपर बोझिल होता जा रहा था।

बंती की समस्त ग्लानि अब बह गई थी। सारी निरर्थकता सार्थकता में बदल गई थी। पिछले सात वर्षों का सारा आक्रोश उसकी नसों में सनसना रहा था, बाहर निकलने के लिए छटपटा रहा था।

दीना की नसें फटने को हो रही थीं। वह सिर से पांव तक कांप रहा था। उसके शरीर के साथ-साथ उसकी बांहें भी, भाभी की बलिष्ठ बांहों में कैद थीं। भाभी के भरे होंठ दिलकश थे, मगर···

दीना का रोआं-रोआं झनझनाकर टूट रहा था। लहरें उसकी रगों में आ-आकर लौट रही थीं। दर्द से उसकी जांघें चरमरा रही थीं। और उसका सारा शरीर पसीने से लथपथ होता जा रहा था।

भाभी का बोझ उसपर से हट गया था। हाथों में मुंह ढांपे वह चारपाई पर बैठी थी। ग्लानि उसकी दूर नहीं हुई थी, सार्थकता नहीं लौटी थी, आक्रोश नहीं टूटा था ··मगर शायद दीना, बेचारे बालक दीना को देखने का साहस बंती में नहीं था।

दीना ने दीवार छोड़ दी थी। उसकी टांगें कांप रही थीं, मगर फिर भी वह चलता जा रहा था, कोठरी छोड़कर वह जा रहा था, कदम बढ़ाता जा रहा था।

भयानक सपने से जगा-सा वह साइकिल उठाकर, दरवाज़ा खोलकर बाहर निकल आया। मैदान के पास-पास, अपने घर से विपरीत दिशा में वह बढ़ता गया। मैदान समाप्त हो गया, एक जुते खेत के पास, पेड़ों के झुंड के नीचे, कंटीली झाड़ी के पास उसने साइकिल छोड़ दी और एक पत्थर पर बैठ गया।

उसे लग रहा था जैसे उसके शरीर का एक अंग उससे कट गया हो। कल्पना में अनुभूत सौन्दर्य के टुकड़े-टुकड़े हो गए हों और नन्ही-नन्ही शिराएं व मांस के छिछड़े लटक आए हों—जैसे कोमलता नंगी हो गई हो, जैसे बालक मर गया हो···

गहराते आकाश के नीचे, दीना के भीतर की ऐंठन उसके पेट से उठने लगी थी। ऐंठन उसके गले तक आ गई थी और उसे बरबस उबकाई आ रही थी···

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

स्नेहदान

विनायकराव यशवंतराव हेगडे जब हार्नबी रोड से परेल के लिए बस में बैठा, तो उसके हृदय में गहरी व्यथा व्याप्त थी। शाम को दफ्तर छूटने के बाद की भीड़ छंट गई थी। सड़क पर जहां-तहां केवल इक्के-दुक्के लोग दिखाई दे जाते थे। शीतल हवा बस की खिड़की से उसका मुंह सहला रही थी। और रात्रि से मिलने के लिए संध्या दौड़ी चली जा रही थी।

और दौड़ती बस की ऊपरी मंज़िल पर, अपनी सीट पर बैठा विनायकराव व्यथा से भर रहा था। डॉक्टर माने का चेहरा उसे जांचने के बाद कितना गम्भीर हो गया था।

चार बजकर दस मिनट पर विनायकराव डॉक्टर माने के दवाखाने में पहुंच गया था। सवा चार बजे की उसकी एपाएंटमेंट थी। ठीक समय पर एक अधेड़ नर्स ने, जिसका काला मंगलसूत्र धवल छाती पर और हीरे की मुरकियां कानों की लवों पर चमक रही थीं मरीज़ों की प्रतीक्षा करती भीड़ में आकर कहा था, "विनायकराव हेगडे।"

विनायकराव उठकर नर्स के पीछे-पीछे अन्दर पहुंचा था। डॉक्टर माने अपने कमरे में एक छोटी मेज़ पर बैठे थे। उन्होंने अपनी कुर्सी घुमाकर विनायकराव की तरफ देखा और बोले, "इधर आ जाएं, विनायकराव जी!"

डॉक्टर माने का चेहरा सुदृढ़ था, आंखें विश्वास से भरी थीं, हाथ भारी और सबल थे। विनायकराव ने अपने आपको डॉक्टर के हवाले कर दिया। डॉक्टर ने उसे बिस्तर पर लिटाकर उसकी छाती पर स्टेथस्कोप लगाया, उसकी नब्ज़ देखी, उसका गला देखा, उसकी आंखें देखीं। विनायक स्वचालित मशीन की भांति बनियान ऊपर करता, सांस लेता, निश्चेष्ट लेटकर घुटने ऊपर करता अपने चारों ओर देखता रहा। दवाओं का आला··· एनिमा का बर्तन और नली··· चिलमचियां···

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

खुर्दबीन… उसका मस्तिष्क शून्य में झूलता रहा, उसकी सांस फिनाइल और ईथर और टिंक्चर की बू में अटकती रही।

परीक्षा के बाद डाक्टर माने ने कहा, "आप कपड़े ठीक कर लीजिए।" जब विनायकराव कमीज़ व पतलून ठीक कर चुका, तो डाक्टर ने कहा, "आप अभी कुछ देर प्रतीक्षा कर सकेंगे ?"

विनायकराव ने प्रश्नसूचक दृष्टि से डॉक्टर माने की ओर देखा।

"मैं बाकी मरीज़ों को देख लूं" डॉक्टर माने ने स्टेथस्कोप को एक हाथ से दूसरे हाथ पर मारते हुए कहा। "तब आपको अपने एक मित्र के पास ले जाऊंगा। आपको कुछ विशेष काम तो नहीं है ?"

"नहीं", विनायकराव ने कहा। "मेरी ड्यूटी सुबह की है। मैं ठहर सकता हूं।"

"तो ठीक है। आप बाहर प्रतीक्षा कीजिए।"

विनायकराव बाहर आकर फिर अपने स्थान पर बैठ गया। एक बूढ़ी पारसी महिला के साथ एक युवती उसकी बाईं ओर की बेंच पर बैठी थी। युवती का शरीर भरा था, मगर चेहरे की जैसे सारी आब धुल चुकी हो, आंखों पर जैसे पर्दा आ पड़ा हो।

पुलिस इंस्पेक्टर वाली अनुभवी दृष्टि से विनायकराव ने गौर से युवती की ओर देखा। कटे हुए बाल, फैशन के कट की फ्राक। होंठों की वक्रता से उसके चेहरे की सारी सौम्यता नष्ट हो गई मालूम होती थी। बुढ़िया की आंखों में लालच बोल रहा था, शायद यह उसकी बेटी नहीं थी। उसकी बैंगनी साड़ी पर काली किनारी थी जिसपर रंग-बिरंगे फूल कढ़े हुए थे। उसकी चोली उसकी ढलती उम्र को बड़े यत्न से ढक रही थी, मगर फिर भी अपने प्रयत्न में असफल थी। बुढ़िया ने एक हाथ में रूमाल कसकर पकड़ा हुआ था—जैसे वही उसके जीवन का सम्बल हो।

विनायकराव के सामने वाली बेंच पर एक हड्डियों का ढांचा कमीज़ व पायजामा पहने बैठा था। उम्र यही १७-१८ की होगी, मगर चेतना-शून्य आखें और थरथराती टांगें जैसे अंतिम यात्रा की थकान से डर रही थीं। उसके साथ एक बड़ी उम्र का व्यक्ति था; मिनट-मिनट पर वह आगे झुककर मरीज के कपड़े ठीक कर देता, उसकी बांहें सहेज देता।

और फिर एक युवा जोड़ी पर आकर विनायकराव की आंखें स्थिर हो गईं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

महाराष्ट्रियन जोड़ी थी—स्वस्थ युवक और सबल युवती। स्फटिक दांतों से बिखरती यौवन की मुस्कान और आंखों में प्रेम की अजस्र धारा।

इन्हें देखकर विनायकराव को अपना वह ज़माना याद आ गया, जिसे वह दस वर्ष पीछे छोड़ आया था— फिर भी लगता था, जैसे कल की बात हो।

मगर इन सभी मरीज़ों में अपना ध्यान लगाने में विनायकराव सफल नहीं हो पाया। आखिर डॉक्टर माने की गम्भीरता का कारण क्या है ? उसे क्या रोग है ? उसने डॉक्टर से पूछा क्यों नहीं ? डॉक्टर ने उसे बताया क्यों नहीं ?

चिन्ता की कोई बात नहीं है, उसने अपने-आपको समझाया, भगवान् सब भली करेंगे।

छः बजे के लगभग दवाखाने में मरीज़ नहीं रहे, तो डॉक्टर माने कपड़े बदलकर बाहर निकले। नीचे उतरकर, दो-तीन गलियां लांघकर वे दोनों एक मकान की दूसरी मंज़िल पर चढ़ गए। और फिर···

एक्सरे की मशीन के सामने देर तक विनायकराव को खड़ा करके दोनों डॉक्टर, डॉक्टर माने और विशेषज्ञ डॉक्टर वकील, आपस में फुसफुसाते रहे।

दफ्तर में जब उन दोनों ने उसकी तरफ देखा, तो विनायकराव की सांस मानो उखड़-सी गई। डॉक्टर वकील ने कहा, "हम आपको डराना नहीं चाहते, मगर ···आपको सावधान न करना अनैतिक होगा। काश, कि आप कुछ पहले हमारे पास आ सकते ! आजकल हमारे पास ऐसी दवाएं हैं जिनके प्रयोग से चमत्कार हो सकते हैं। मैंने अपनी आंखों में ऐसे केस देखे हैं, जो दो वर्ष पहले असाध्य थे, मगर जिन्हें मैंने स्वास्थ्य-लाभ करते पाया। मगर ··मुझे खेद है, आपके लिए···"

डॉक्टर माने ने कहा, "मिस्टर विनायकराव, क्या आपके परिवार में ऐसा रोग किसीको था ?"

विनायकराव के मस्तिष्क में अतीत की याद लौट आई। शायद यह याद नहीं थी, मां के शब्दों में सुने वे चित्र थे जिन्होंने विनायकराव के लिए उसके पिता की अनुपस्थिति को भरा था। मां का जीवन-संघर्ष, एकांत में बेटे को गोद में भींचकर रोना, पिता की याद को बर्तन-भांडों की खनक और सिलाई की मशीन की आवाज़ में डुबो देना।

विनायकराव ने सिर हिलाकर हामी भरी।

"किसे था ?"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"पिता को···" विनायकराव को लगा, वह सामने पड़े दवा के विज्ञापन को हाथ में लेकर भींच लेगा। कठिनाई से उसने अपने हाथ मेज़ के छोर पर गड़ाए रखे।

"डाक्टर···" न जाने कितने नि:शब्द क्षणों के बाद विनायकराव ने कहा। उसका मस्तिष्क धीरे-धीरे अपनी पहली दशा को लौट रहा था। "डॉक्टर, कितने दिन और···?"

"विश्वस्त रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।"

"फिर भी ?"

"कुछ ही महीने।"

"धन्यवाद।"

और विनायकराव उठकर खड़ा हो गया। उसने डॉक्टर वकील को धन्यवाद दिया, डॉक्टर माने से हाथ मिलाया। डॉक्टर माने उसे छोड़ने बाहर आए। बोले, "दो- तीन दिन में मुझसे फिर मिलना।"

"क्यों ?" विनायक की आवाज़ में एकाएक कठोरता आ गई, जिसका भान उसे बाद में हुआ। नर्म पड़कर बोला, "अच्छा, मिलूंगा।"

और अब विनायकराव बस में बैठा परेल जा रहा था। इस समय बस लैमिंटन रोड से गुज़र रही थी और फिल्म देखने वालों की भीड़ सिनेमाघरों के बाहर, चाट की दूकानों पर, और चाय-घरों में मंडरा रही थी।

ऐसी ही भीड़ में एक सांझ को उसके जीवन का श्रीगणेश हुआ था।

कोल्हापुर की वह शाम कितनी उदास और बोझिल थी। जीवन में पहली बार विनायकराव ने अपनी सारी मितव्ययिता और संभाल को दोनों हाथों से उलीचकर उठा फेंका था। उनका दिल विद्रोह से छलक रहा था। मैं किसीकी परवाह नहीं करूंगा। क्यों करूं ? आखिर परवाह करने पर मुझे क्या हासिल हुआ था ? आज तक मैंने जीवन में क्या सुख भोगा ?

बी० ए० की परीक्षा में बैठने के लिए लाख कोशिशों के बावजूद उसके पास पैसे जमा नहीं हुए थे। मां पड़ोस के घरों में काम करती थी और वह ट्यूशनें करता था, फिर भी घर का खर्च चलाने में वह असफल रहा था। फार्म भरने की आखिरी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तारीख दो दिन बाद थी— ग्रौर इसी बात को लेकर मां के साथ उसकी कहा-सुनी हो गई थी।

"तुम नारायणराव के यहां चले क्यों नहीं जाते ?" मां ने कहा था। "ग्राखिर हर्ज क्या है, वक्त पड़ने पर किसीकी मदद···"

"नहीं, नहीं, नहीं !" विनायकराव ने कहा था, "मां, तुम इतनी-सी बात समझती क्यों नहीं ? मुझे उनकी बेटी से शादी नहीं करनी है। फिर मैं उनका ऋण ग्रपने माथे पर क्यों लूं ?"

"कृष्णाबाई में क्या कमी है, रे ?" मां ने उसके पास ग्राकर उसके माथे को सहलाकर कहा था। "सुशील है, सुन्दर है, घर का सब काम-काज कर लेती है। ग्राखिर शादी तो तू करेगा ही। फिर कृष्णाबाई से ही कर लेगा, तो क्या हर्ज है ?"

विनायकराव ने मां की बात का जवाब नहीं दिया था। जवाब देने से फायदा ? मां न ग्रब समझती है, न तब समझेगी। ग्राखिर बेटे के दिल की बात वह क्यों कर जान सकती है। बेटे के मन में कुछ ग्रनर्गल उमड़-घुमड़ रहा है, बस वह तो यही जानती है।

मां-बेटे दोनों ग्रामने-सामने खड़े रहे ग्रौर धूमिल संध्या दबे पांव ग्रन्दर ग्रा गई। तब विनायकराव ने कहा, "मैं बाहर जा रहा हूं, मां। देर से लौटूं तो चिन्ता न करना।" उसका विचार था, कुछ देर शहर की सड़कों पर घूम-फिरकर ग्रपना जी हलका कर लेगा··· कहीं एकान्त में बैठकर ग्रांखों की कोरों से ग्रपना दुःख झटक देगा।

ग्रौर जब वह बाहर जाने के लिए मुड़ा, तो मां की निराश थकी दुःखी ग्रांखों से लाख प्रयत्न करने पर भी वह बच न सका।

ममतामयी मां की वह नज़र उसे भीतर तक काट गई ग्रौर ग्रनायास ही उसकी ग्रांखें भर ग्राईं। वह तेज़ कदम उठाता हुग्रा बाहर निकल गया।

उस रात न जाने कितनी देर वह कोल्हापुर की वीरान सड़कों पर घूमता रहता, ग्रगर एकाएक सिनेमा-घर के सामने से गुज़रते हुए उसे किसी दानवी विचार ने न ग्रा दबोचा होता। फ़िल्म ग्रारम्भ हो चुकी थी, फिर भी वह टिकट खरीदकर पैसे जेब में ठूंसता हुग्रा ग्रन्दर ग्रंधेरे में जा बैठा।

ग्रौर फिर उस ग्रंधेरे में बैठे-बैठे धीरे-धीरे उसके दिल की गांठें खुलती गईं— ग्रौर एक बार तो वह इतनी ज़ोर से हंसा कि उसे ग्रपने पर ही ग्राश्चर्य हो ग्राया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

झटके के साथ वह आगे झुक गया और फिर पीछे की ओर सीट की मूठपर उसका हाथ ज़ोर से उतरा ··· तो किसी अन्य व्यक्ति के हाथ से स्पर्श होने पर वह कुछ अचकचा-सा गया। "क्षमा कीजिएगा !" वह होठों ही में बुदबुदाया।

फ़िल्म के कथानक में उसे बेहद रस आ रहा था कि एकाएक इंटरवल की सूचना परदे पर झलकी और साथ ही हाल की बत्तियां जल उठीं। चुभते प्रकाश में उसने चाय-सोडा-लैमन और मसाला-चना की पुकारें सुनीं। आंखों पर हाथ फेर-कर वह बाहर जाने को हुआ, तो उसकी नज़र साथ की कुरसी पर पड़ी। वह ठिठक गया।

विनायकराव बाहर से शीघ्र ही लौट आया। मां की बात उसे अब याद न रही थी। जीवन की कड़वाहट अब उसके मन से घुल गई थी। अपनी जगह बैठकर उसने फिर अपने साथ की सीट पर बैठी युवती की ओर देखा। वह चुपचाप बैठी थी, मगर उसके हाथों की उंगलियां उद्विग्न थीं। गोरे माथे पर काली बिंदिया को वह बार-बार छू रही थी। काली साड़ी के आंचल को वह बार-बार कन्धों पर ठीक कर रही थी।

विनायकराव ने देखा कि आसपास की सीटों पर कोई नहीं था। बस वह था और वह युवती।

"बहुत अच्छी फिल्म है।" विनायकराव ने युवती की ओर मुड़कर कहा।

युवती के कन्धों में ज़रा-सी हरकत हुई और फिर उसने घूमकर विनायक-राव की ओर देखा। फिर उसकी आंखें नीचे झुक गईं।

उस एक क्षण में, जब युवती ने उसकी ओर देखा, विनायकराव ने उस लड़की का चेहरा पूरी तरह से देख लिया था। उसकी आंखें बहुत बड़ी-बड़ी थी जैसे उसका सारा अस्तित्व उन्हीं दो आंखों में निहित हो। पतली नाक के नीचे होठों का कटाव निहायत प्यारा था। नन्हे असहाय से होंठों पर एक बहुत ही उद्दण्ड-सी मुस्कराहट थी, जो आंखों के चौंकाने वाले भाव को ढंक रही थी।

विनायकराव को ऐसा महसूस हुआ जैसे इस युवती को वह जानता है। इस लड़की से वह घण्टों बातें कर चुका है। इससे उसे किसी परिचय की जरूरत नहीं है। उनके बीच झिझक का प्रश्न ही नहीं उठता।

बहुत देर बाद युवती ने सिर उठाया और उसकी ओर देखा। शायद वह कुछ कहना चाहती थी मगर तभी बत्तियां बुझ गईं और पर्दे पर विज्ञापनों के स्लाइड

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आने-जाने लगे।

विनायकराव की आंखें पर्दे पर लगी रहीं, मगर उनकी विचारधारा किसी अन्य ही दिशा में बह रही थी···रास्ते के पत्थरों, कंकड़ों से वेपरवाह। आखिर मैंने इस युवती को कहां देखा है? क्या यह मां की किसी परिचिता की वेटी है? क्या यह लड़कियों के उस स्कूल की मास्टरनी है, जिसके सामने से मैं रोज गुज़रता हूं? क्या यह मेरे कॉलिज में पढ़ती है?

फिल्म समाप्त हो गई, मगर उसकी विचारधारा को कोई किनारा नहीं मिला। बस, एक ही विचार उसे रह-रहकर आता रहा। इस युवती से मैं दो-एक बातें करूंगा। किसी न किसी ढंग से मैं जानकारी बढ़ाऊंगा। इसे पाकर मैं खोऊंगा नहीं, क्योंकि वह उसकी चिरपरिचिता है।

सिनेमा-हाल में बत्तियां जलीं, तो युवती उठ खड़ी हुई। विनायकराव भी उठा···बोला, "आप यहां किस कॉलेज में पढ़ती हैं?"

युवती ने विनायकराव की ओर देखा। फिर वह बिना उत्तर दिए दरवाज़े की ओर बढ़ने लगी। वे दोनों बाहर सड़क पर आ गए जहां कुछ तांगे खड़े सवारियों की प्रतीक्षा कर रहे थे। पान-सिगरेट की दो दूकानों और एक हलवाई की अकेली दूकान को छोड़कर बाकी सभी ओर अकेलापन था। छोटे नगरों की रात्रि का सूनापन उनके चारों ओर था।

"किधर जाइएगा?" विनायकराव युवती के साथ-साथ कदम उठा रहे थे। युवती के कदम तेज़ हो गए थे। सूनापन बढ़ गया था। मगर विनायकराव हार नहीं मान रहा था।

एकाएक एक मोड़ पर युवती रुक गई, "आप मेरा पीछा क्यों कर रहे हैं?" उसने कठोरता से कहा।

विनायकराव हंस दिया, "नहीं तो! मैं तो पीछा नहीं कर रहा। मैं आपके साथ चल रहा हूं।"

"आप कौन हैं?" दृढ़ स्वर में युवती ने फिर कहा।

"मैं विनायकराव हूं। मैं ? पेठ में रहता हूं, राजाराम कॉलेज में चौथे वर्ष में पढ़ता हूं, और···"

युवती उसके सामने, सड़क की बत्ती के नीचे खड़ी थी और कुछ दूर एक पुलिसमैन की नीली पोशाक दिखाई दे रही थी। मगर विनायकराव उस ओर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

देखकर कुछ नहीं देख रहा था, क्योंकि उसमें न जाने कहां से एक उद्दण्डता-सी आ गई थी। लड़कियों से बातें करते वह अक्सर शरमाता था, या यह कहिए कि उनसे वह डरता था। मगर रात की ठंडी हवा, उसके दिल में गहरा धँसा हुआ डर कि अभी अगर युवती से परिचय नहीं हुआ तो न जाने क्या अनर्थ हो जाएगा···और इन सबके ऊपर रात की रानी का साथ के घर से उसपर अचानक आक्रमण।

विनायकराव बोलते-बोलते एकाएक रुक गया। विनायकराव के रुकने पर युवती ने भरपूर कजरारी आंखों से उसकी ओर देखा और फिर न जाने क्यों वह खिलखिलाकर हंस पड़ी। उसके सफेद दांत झिलमिलाए, तो विनायकराव मन्त्र-मुग्ध उसकी ओर देखता रह गया। यहां तक कि उसने यह भी नहीं सुना कि वह क्या कह रही है।

"मैं पुलिस को बुलाऊं?"

"क्या कहा?"

"मैंने कहा, क्या मैं पुलिस को बुलाऊं? आप ऐसे मेरा पीछा नहीं छोड़ेंगे?"

विनायकराव सचेत हो गया। शायद वह कुछ डर भी गया था। बोला, "पीछा करना छोड़ दूंगा, अगर तुम मुझे अपना पता बता दो···और वादा भी करो कि कल शाम को तुम मुझे मिलोगी।"

"अच्छा···!"

विनायकराव को अब खुद अपने साहस पर आश्चर्य हो रहा था। वह तो किसी फिल्मी हीरो की तरह बातें कर रहा था। कुछ देर की चुप्पी के बाद वह बोला, "तो फिर?"

युवती गम्भीरता से कुछ सोच रही थी। सचमुच वह बहुत सुन्दर थी और भोली भी।

"तो फिर आप कल मुझसे मिलिएगा··यहीं···इसी जगह पर···"

"कितने बजे?"

"शाम छः बजे।"

विनायकराव ने रात की रानी की सुगन्ध को अपने फेफड़ों में भर लिया। वह कुछ कहे इससे पहले ही युवती लपककर अंधेरे में लोप हो गई। विनायकराव खड़ा-खड़ा सोचता रहा···वह उसे झांसा देकर भाग तो नहीं गई?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मगर अगले दिन जब वह शाम को उस बत्ती के नीचे रात की रानी के उस पौधे के पास पहुंचा···तो सचमुच ठीक समय पर युवती आई। मगर इसके पहले कि वह उससे बात कर सके, युवती ने दबे स्वर में उसके पास से गुजरते हुए कहा, "अभी बात न कीजिए। मेरे पीछे-पीछे चले आइए।"

दिन के अन्तिम प्रकाश और बत्तियों के प्रथम प्रकाश में बीच, सड़क पर काफ़ी चहल-पहल थी। वे स्त्री-पुरुष-बालकों की भीड़ के बीच चलते गए। जब वे दोनों एक निर्जन स्थान पर पहुंच गए,जहां घर समाप्त हो चुके थे और खेत आरम्भ हो रहे थे, तो वे रुक गए।

"आओ, कहीं बैठ जाएं।" विनायकराव ने कहा। सड़क के पास कुछ पौधों के झुरमुट थे। ऊबड़-खाबड़ जमीन को पार करके, झुरमुटों के पीछे, हरी घास के विस्तृत मैदान में पहुंचकर वे दोनों बैठ गए।

युवती ने अपनी चंचल आंखें विनायकराव की ओर फेरीं और भरपूर नज़रों से उसकी ओर देखा। बोली, "अब बताइए, आप क्या कहना चाहते हैं ?"

विनायकराव आश्चर्य से युवती की ओर देख रहा था, उसके स्वच्छ उजले कपड़ों की ओर देख रहा था, और मन ही मन यहां तक चले आने के लिए उसके साहस की सराहना कर रहा था। बोला,"हां, मैं पूछना चाहता था, आपका नाम क्या है ?"

"कुसुम।"

"आप कहां पढ़ती हैं ?"

"कहीं नहीं।"

विनायकराव जैसे सोच में पड़ गया। चुपचाप सांझ के गहरे होते झुटपुटे में वह युवती की ओर ताकता रहा।

युवती ने पूछा, "क्यों, आपको निराशा हुई ?"

"नहीं—मैं खुद भी किसी कालेज में नहीं पढ़ रहा। अच्छा, आप कहां रहती हैं, पूछ सकता हूं ?"

युवती ने शरारत में भरकर उसकी ओर देखा। मुस्कराकर बोली, "कोल्हापुर में।" और फिर वह विनायकराव के मुंह पर आनेवाले अचकचाए भावों को देखकर खिलखिलाकर हंस पड़ी। एक पल के लिए विनायकराव के मुंह पर गम्भीरता रही, फिर वह भी हंसने लगा। पौधे के पीछे से एक चकवा और चकवी उन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दोनों की हंसी सुनकर हवा में उड़ गए और पंख फड़फड़ाकर आकाश में ऊपर उठते हुए अदृश्य हो गए।

विनायकराव ने वहां नीले आकाश में गायब होते हुए चकवा-चकवी की ओर देखा—और फिर छिटकी चांदनी में अपने सामने बैठी शुभ्र दांतों और स्वच्छ कपड़ों वाली हंसती हुई युवती की ओर देखा।

उसे लगा जैसे यह अपूर्व दृश्य उनके मस्तिष्क की तहों में देर से सोया पड़ा था और आज अचानक मस्तिष्क के बाहर हूबहू वैसे का वैसा आ खड़ा हुआ है।

कुछ ही दिनों में विनायकराव की निराश ज़िन्दगी आशा की बाढ़ से भर गई। कुसुम की सुरभि से जैसे उसके मानस का एक रीता कोना महक उठा हो।

बी० ए० की परीक्षा में विनायकराव नहीं बैठ सका। मां को इस बात का काफी दुःख रहा—कई दिन तक उसके चेहरे पर मुस्कराहट की झलक नहीं आई। मगर बेटे की खुशी उससे अधिक देर नहीं छिप सकी—और फिर उस खुशी के प्रभाव में उसका अपना दुःख भी धुल गया।

सीटी बजाते हुए, शीशे में अपना चेहरा देखते हुए, विनायकराव मुस्करा उठता। मां उसे देखती और सोचती, बेटे में कुछ परिवर्तन आ रहा है। बेटे का दिल मां के चेहरे का भाव देखकर और भी गहरी प्रसन्नता से भर उठता। मां को अभी वह नहीं बताएगा। तब बताएगा जब वह सचमुच मां के सपनों को साकार कर सकेगा।

अपनी दादी की अकेली पोती कुसुम ने कितनी झिझक के साथ एक दिन कहा था, "मेरी एक सहेली दसवीं में पढ़ती है। तुम···तुम उसे पढ़ा दोगे ?"

"ज़रूर पढ़ा दूंगा। तुम जानती हो, मैं बहुत ज़रूरतमन्द आदमी हूं।"

कुसुम के चेहरे पर लाली फैल गई। उसे बहुत बुरा लगता जब विनायकराव अपने अभाव को लेकर ऐसा व्यंग्य कस देता। "हटाओ, मैं तुमसे कोई बात नहीं करूंगी।"

"अच्छी बात है।" विनायकराव मुस्करा दिया था। उसे कुसुम में एक अजीब-सा परिवर्तन दिखाई दे रहा था। पहले वह बेधड़क बात कर लेती थी, मगर कुछ दिनों से उसने बात-बात में शर्माना शुरू कर दिया था—जैसे उन दोनों के बीच कुछ नई-सी बात आ गई हो। विनायकराव को यह नया व्यवहार बहुत प्यारा लगता था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

रुपयों की बात उसने रहने दी थी और पढ़ाना शुरू कर दिया था। और फिर महीने के भीतर ही उसे एक और ट्यूशन मिल गई थी—इस बार कुसुम की एक और सहेली के भाई को पढ़ाने के लिए। शांता, जो गोल आंखों, गोल चेहरे, और भारी शरीर की सोलह वर्ष की लड़की थी और बसन्त जो १४ वर्ष का पतला और लम्बा व शर्मीला लड़का था—इन दोनों को पढ़ाने में और खुद परीक्षा की तैयारी करने में वह इतना व्यस्त था कि उसे पता ही न चलता और वक्त गुज़र जाता। मगर फिर भी कुसुम को मिलने का वक्त वह ज़रूर निकाल लेता। शहर के बाहर, नदी के चौड़े पाट के पास वे दोनों टहलते, बीते और आने वाले दिनों की बातें करते, और हाथ में हाथ थामे कभी-कभी दूर तक खेतों के बीच निकल जाते। और जब भी कुसुम हंसती, विनायकराव को हमेशा कुसुम की गोरी गर्दन के ऊपर शुभ्र दंत-पंक्ति की याद हो आती जब चकवा और चकवी की जोड़ी धूमिल संध्या के आकाश में गायब हो गई थी।

शरद् की चांदनी, पतझर की उदासी और वसन्त का नया। जीवन एक और दो और तीन बार शरद्, पतझर और वसन्त आए और गए और विनायकराव और कुसुम का प्रेम वसन्त की कोंपल की भांति पनपता रहा। फिर एक दिन विनायक ने कुसुम को बांहों में घेरकर कहा, "कल मेरा इंटरव्यू है।"

कुसुम ने उसके कन्धे पर अपना चेहरा रख दिया, "परीक्षा में तुम पास हो, फिर इंटरव्यू का क्या डर है? नौकरी मिल जाएगी, तो···"

घर आकर विनायकराव ने मां से कहा, "कल मेरा इंटरव्यू है, मां।" उसके स्वर में आशा नहीं थी, विश्वास था, जो वह कुसुम से अपने साथ ले आया था।

मां ने रसोई में भांड़-बर्तनों की कतार के परे अपनी खाट पर बिस्तर की चादर ठीक की और कम्बल को खोलकर पायताने रख दिया। वह बेटे की ओर मुड़ी तो उसकी आंखों में अलौकिक चमक थी। कासनी साड़ी से ढंका हुआ उसका कृश शरीर अब झुकने लगा था, चेहरे का मांस भी ढलक आया था—मगर आंखों की ममतामयी नज़र वही मां की नज़र थी, निराश व थकी व असहाय! अलौकिक चमक एक पल के लिए आकर विलीन हो गई, तो उसने कहा, "जुग-जुग जिओ, मेरे बेटे। नौकरी तुम्हें ज़रूर मिल जाएगी।"

और फिर वह रसोई परोसने के लिए घूम गई। पटरा बिछाकर, थाली परसकर उसने कहा, "आओ, बेटा, खाना खा लो।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

विनायकराव खड़ा रहा। मां की आंखों में झांकता रहा। "तुम ठीक तो हो मां ?" उसने कांपते स्वर में पूछा।

"हां बेटा, मैं बिलकुल ठीक हूं। क्यों ?"

"तुम्हें खुशी नहीं है ? क्या तुम्हें विश्वास नहीं है कि मुझे नौकरी मिल जाएगी ?"

"पगला ! मां को बेटे पर विश्वास नहीं होगा ? देख लेना, कल तू नौकरी लेकर लौटेगा और हमारे सारे क्लेश दूर हो जएंगे।" और मां चुप होकर कहीं शून्य में देखने लगी। "आज तेरे बाबा होते, तो कितने खुश होते।"

विनायकराव के चेहरे पर एक परछाईं आ गई। उसके होंठों की कोरों में न जाने कहां से एक सख्ती उभर आई, मगर फिर कुछ देर बाद मां के स्नेह की गरमी में पिघलकर, पटरा खींचकर उसपर बैठता हुआ बोला, "अच्छा मां, खाना तो दो।"

"अरे हां, मैं तो भूल ही गई।" और मां ने परोसी हुई थाली उसके सामने सरका दी। घड़े में से पानी ढालकर थाली के पास रख दिया।

फिर वह उसके सामने ही चटाई बिछाकर बैठ गई।

विनायकराव ने धीरे-धीरे मन लगाकर खाना खाया।

बहुत दिन बाद उसे खाने में रस आया—और उसे लगा जैसे वह खाता जाएगा, खाता जाएगा, मगर फिर भी अघाएगा कभी नहीं।

खाने के बाद उसका दिल चाहा, वह देर तक मां के पास बैठा बातें करता रहे। सभी किस्म की बातें जो मां-बेटे करते हैं—नौकरी लग जाने के बाद वह क्या-क्या करेगा, मां को कैसा सुख देगा, उसके ज़ेवर जो बिक चुके हैं, फिर से बनवा देगा, इत्यादि-इत्यादि।

मगर मां की आंखों में थकावट को देखकर उसने कहा, "मां, अब तुम सो जाओ।"

सवेरे जब तक वह गाड़ी में नहीं बैठ गया, सभी कुछ उसने इस तेज़ी से किया कि सोचने का अवकाश तक नहीं मिला। फिर गाड़ी की गति में उसने अपने-आपको समोकर आने वाले इण्टरव्यू के विषय में दत्त-चित्त होकर सोचा, साथ लाई पुस्तक के पृष्ठ उलटे और इण्टरव्यू के बाद जब वह लौटा तो जीवन की पूर्णता से, प्रकृति की सुन्दरता से उसका अन्तर बार-बार प्रभावित होता रहा। कोल्हापुर पहुंचते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ही वह कुसुम से मिलने उसके घर गया। आज का दिन उसके लिए शुभ था, और वह चाहता था, सभी कुछ आज ही निबट जाए, कल के लिए कुछ भी उठा न रखा जाए।

बहुत रात गए, प्रसन्नता से लबालब जब वह घर पहुंचा तो अंधेरे घर की रसोई में विनायकराव ने टटोलकर बत्ती जलाई, देखा मां बिस्तर पर पड़ी थी। उसने बढ़कर उसके कंधे झकझोरने चाहे, मगर··· मगर अचकचा कर वह पीछे हट गया।

वह मां से कहना चाहता था, 'मां, तुम्हारे बेटे को नौकरी मिल गई है। अब तुम्हारी चिन्ताओं का, दुःखों का अंत हो गया है। उठो, मुझे खाना दो और खुशखबरी सुनो। अब हम बम्बई जाएंगे, वहां एक अच्छे फ्लैट में रहेंगे। महरी झाड़ू लगाने आएगी। पहली तारीख को पैसे घर आ जाएंगे। और कोई चिन्ता नहीं रह जाएगी।

'और मां, तुम्हारी बहू का भी प्रबन्ध हो गया है। वह तुमसे मिलने कल सुबह आएगी। तुम उसके लिए चाय और नाश्ता तैयार रखना। अपना सबसे स्वादिष्ट पकवान बनाना उसके लिए, हां। मैंने कह रखा है, तुम्हारा चिवड़ा बड़ा स्वादिष्ट होता है। उससे नाराज न होना मां, कुसुम बहुत अच्छी लड़की है, उसका दिल मत दुखाना। आज वह कितनी खुश थी—मुझसे भी ज़्यादा खुश। कहती थी, अपनी दादी को वह अब मना लेगी। दादी उसकी कोई बात नहीं टालती और अब तो नौकरी भी मिल गई है—ऐसी अच्छी नौकरी कि···'

वह मां से और भी बहुत कुछ कहना चाहता था। मगर बीस वर्षों के परिश्रम से मां थककर सो रही थी। उसके चेहरे पर अलौकिक-सी मुस्कान थी और होंठ ऐसे जैसे आशीर्वाद देने के लिए खोलने जा रही हो। थका शरीर कितना दीन और असहाय लग रहा था। एक बांह उसके सिर के नीचे दबी थी और दूसरी चारपाई की पट्टी के बाहर लटक रही थी।

विनायकराव बस में बैठा था और उसके दिमाग में अतीत की सुखद और दुखद छायाएं तिरती चली आ रही थीं जैसे ग्रीष्म ऋतु के पत्ते शरद में झर कर पानी की सतह पर हरे और पीले वृत्त बनाते चले जाते हैं। और इन सभी वृत्तों में अनजाने ही विनायकराव के लिए एक आकार स्पष्ट होता जा रहा था—स्पष्टतर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

होता चला जा रहा था।

वह बस से उतर बैठा। सड़क पार करके, गली में आया। फिर सीढ़ियां चढ़कर उसने अपने फ्लैट की घंटी बजाई और इन्तज़ार करने लगा। अन्दर कुछ आहट हुई, फिर दरवाज़ा तनिक-सा खुला, फिर पूरा खुल गया। कुसुम ने शुभ्र मुस्कान के साथ उसका स्वागत किया, "आ गए।"

एक क्षण के लिए विनायकराव दरवाज़े के बाहर रुका रहा। उसे वह दिन याद आ गया जब कुसुम से उसकी पहली भेंट हुई थी—कोल्हापुर के सिनेमा घर में नन्ही नाक वाला वह चेहरा जिसके नीचे बहुत ही प्यारे कटाव के होंठ मुस्करा रहे थे। आज भी उन होंठों पर मुस्कराहट थी, आज भी जब वह आखें झुकाकर अपने होंठ काटती तो उन दिनों का स्वच्छ निर्मल क्वांरा आकर्षण विनायकराव की नस-नस में समा जाता था। मगर आज इस चेहरे को वह जी भरकर निहार रहा था और भीतर न जाने कहां एक रीतापन उसके अन्दर पनप रहा था। इस रीतेपन की असह्य वेदना से उसने आंखें बन्द कर लीं और भीतर आकर दरवाज़ा बन्द कर दिया।

कोल्हापुर की कुसुम और आज की कुसुम में ज़मीन-आसमान का अन्तर था। एक प्रेयसी थी, दूसरी मां। एक कली थी, दूसरी सुरभि से सरावोर पुष्प। एक चंचल हिरणी थी, दूसरी स्थिर धीर-गम्भीर जगद्धात्री। मगर विनायकराव के लिए कुसुम एक विशेष भावना थी, एक विशेष धड़कन थी। कुसुम चाहे बाहर से जितनी भी बदल जाए, विनायकराव के लिए वह वही थी जिसने पहले दिन की मुलाकात में उसके मानस के सूक्ष्म तार झनझना दिए थे।

कुसुम ने आगे बढ़कर उद्विग्नता से अपनी हथेली विनायकराव के माथे पर रख दी। "क्यों, तबियत तो ठीक है?"

"हां," विनायकराव ने कहा और कुसुम का हाथ माथे से हटाकर उसने अपनी हथेलियों के बीच दबा लिया। फिर भीतर की सारी शक्ति संचित करके वह मुस्कराया। बोला, "क्यों, तुम इतनी चिन्तित क्यों हो? काम से आया हूं, कुछ थकावट तो होती ही है।"

"चलो, बैठो, चाय लाती हूं।" और वह मुड़कर रसोई घर की तरफ चली गई। जाते-जाते साड़ी का पल्ला जान-बूझकर उसने विनायकराव के सिर से छुला दिया। प्रेयसी के कपड़े की सुगन्ध विनायकराव के उद्वेलित मन को अनायास ही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

शान्त-स्वस्थ कर गई।

और फिर चाय पीते हुए, प्रेमियों की निरर्थक अर्थ-भरी बातें करते हुए, खाना पकाने के समय रसोई घर में कुर्सी पर बैठे अखबार के पन्ने पलटते हुए, विनायकराव के मन पर छाए शाम के बादल न जाने कहां अदृश्य हो गए। आकाश की नीलाहट चारों ओर छिटक गई—स्वस्थ-स्वच्छ धूप से उसका संसार चमक उठा।

स्टोव की आवाज़ को चीरती हुई दरवाज़े की घंटी बज उठी। बालों को कान के पीछे समेटकर कुसुम ने साड़ी का छोर कमर में खोंसा और बाहर चली गई। विनायकराव ने अपनी रुकी हुई सांस छोड़कर बदन को ढीला छोड़ दिया। बेचैनी फिर उसके मन पर मंड़राने लगी।

सुधीर होगा, उसका और कुसुम का सुधीर। दरवाज़ा खुलने का खटका··· 'आई' की पुकार और फिर दरवाज़ा उढ़कने की आवाज़। कुछ ही मिनट के बाद मां के आगे-आगे सुधीर रसोई में आ गया। मां की आंखों में तरल वात्सल्य उसके ताज़े बने बालों की चमक से भी चंचल! और बेटे की शरारती आंखों की चपलता! मां के आंचल की पृष्ठभूमि पर उमगती कोंपल-सा प्यारा नन्हा सुधीर।

"बाबा," सुधीर ने कहा और विनायकराव ने उसे बांहों में ले लिया, भींच-कर कलेजे से लगा लिया। उंगलियों का स्पर्श उसके कोमल चेहरे पर फिसला, फिर विनायकराव ने कन्धों से पकड़कर बेटे को परे किया ताकि उसे जी भर कर निहार सके।

और देखते ही देखते, कुछ पल पहले की तसवीर विनायकराव के मन पर फिर छा गई, लौटकर गहरी खिच गई।

मां और बेटा, कुसुम और सुधीर···रमाबाई और विनायकराव, विनायक-राव और रमाबाई···

एक बहुत पुराना दृश्य विनायकराव के मस्तिष्क में उभर आया। पांच वर्ष का बालक विनायक रमाबाई के पास बैठा है, छोटी-सी फटी पुस्तक से वह वर्ण-माला पढ़ रहा है और मां की तरफ़ देखकर कभी-कभी मुस्करा पड़ता है। मगर मां चुपचाप अपनी सिलाई में लगी है। तेल की ढिबरी चिटचिट जल रही है और मां की आंखों में दर्द है जो कसक-कसक उठता है। आखिर विनायक पढ़ना बन्द कर देता है, पुस्तक तहाकर रख देता है, और उठकर मां की पीठ पर चढ़ जाता है। गर्दन के गिर्द नन्ही बांहें डालकर वह भूल जाता है, मां की गोद में लुढ़क जाता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

है, मां उसे अंक में भर लेती है, फफक-फफककर रो पड़ती है।

रमाबाई का रोता चित्र, रमा कुसुम-सी दीखती है, विनायक सुधीर-सा दीखता है, ढिबरी बुझ जाती है···चारों तरफ अंधेरा ही अंधेरा···

नहीं।

विनायकराव ने आंखें फाड़कर अपने चारों तरफ़ देखा, स्वच्छ-स्वस्थ कुसुम और नन्हा नटखट सुधीर, नहीं, ये रमाबाई और विनायकराव नहीं बनेंगे, हरगिज़ नहीं बनेंगे। वह सारे सवाल खुद सुलझाकर रहेगा···जरूर सुलझाएगा···

आंखें भींचकर उसने दिल की टीस को अन्दर ही अन्दर दबा दिया। गहरे अंधकार से बाहर उजले प्रकाश में वह उस टीस को नहीं लाएगा, हरगिज़-हरगिज़ नहीं लाएगा।

स्वस्थ होकर उसने आंखें खोल दीं। कुसुम बेटे को गोद में लिए उसे चूम रही थी। सुधीर की बांहें मां की गर्दन के गिर्द थीं और मां का मंगल-सूत्र उसके गालों से लग रहा था। सोने के तार में काले दाने, उजली गर्दन पर नन्हा-सा तिल, बच्चे के माथे पर काला नज़र का टीका।

कुसुम की आंखें हंसीं और एक भरी नज़र से उसने विनायकराव की तरफ देखा। सुधीर की किलकारी से वात्सल्य और प्रेम की पूर्णता के उत्तर में विनायकराव मुस्करा दिया। उस एक क्षण में तीन जीवन आनंद की डोर में पिरोए गए।

रात आधी से अधिक बीत चुकी थी, मगर विनायकराव जाग रहा था। खिड़की से आती हवा के झोंकों में नमी थी, पेड़ों के पत्तों की सरसराहट में तीव्रता बढ़ती जा रही थी।

मगर विनायकराव के कानों में हवा का ज़ोर सुनने की क्षमता नहीं थी। उसका हृदय घड़ी की टिकटिक से बंधा था, एक-एक पल उसके लिए भारी हो रहा था।

सभी कुछ जो उसे करना था, वह कर चुका था। बस, एक ही अंतिम कार्य बाकी था। उसीके लिए वह अपनी सांसें बटोर रहा था और घड़ी की टिक-टिक थी जो पल-पल उसे सचेत कर रही थी।

शाम को जी भर कर उसने खाना खाया था। एक-एक कौर में उसने रस लिया था, दिल खोलकर वह सुधीर और कुसुम के साथ हंसा था। सुधीर जब

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ऊंघ गया था, तो कुसुम और वह, दोनों बाहर घूमने गए थे। लौटकर सुधीर से परे अपने बिस्तर पर लेटकर उसने उतावलेपन से बाट जोही थी। कुसुम की खट-पट उसके कानों तक पहुंच रही थी, और वह सोच रहा था, वह जल्दी क्यों नहीं आती? वह इतनी देर क्यों कर रही है?

और आखिर बत्ती बुझाकर कुसुम जब उसकी बांहों में फिसल आई, तो रुंधे कंठ से विनायकराव ने कहा था, "तुम्हें याद है कुसुम, वह दिन जब सांझ के समय कोल्हापुर के नदी तट पर चकवा-चकवी का जोड़ा चहककर आकाश में ओझल हो गया था? आज हम भी उस चकवा-चकवी की तरह खो जाएंगे।"

उत्तर में कुसुम ने अपनी उंगलियां विनायकराव के घने बालों में उलझा दी थीं। विनायकराव ने उसे बांहों में भींचकर उसके होंठों पर अपने प्यासे उद्विग्न होंठ रख दिए थे। कुछ देर के लिए सभी कुछ कुसुम के भरे शरीर की ऊंचाइयों-गहराइयों में खो गया था, ऐसे जैसे आज तक कभी नहीं खोया था।

और अब कुसुम उसके वक्षस्थल पर सिर धरे गहरी नींद में सो रही थी और उसकी सांस शान्त शीतल थी, जैसी बाढ़ के बाद नदी होती है। मगर विनायक-राव शांत नहीं था; उसके अन्तर में झंझावात घुमड़ रहा था।

गर्दन घुमाकर उसने कुसुम के सोते होंठों को हलके से चूम लिया। कुनमुना-कर कुसुम हिली-डुली और फिर विनायकराव की गर्दन में उसने बांहें डाल दीं।

न जाने कितनी देर तक विनायकराव इन्तज़ार करता रहा। बहुत देर बाद, सावधानी से उसने अपने-आपको कुसुम की बांह से आज़ाद किया और उठकर बिस्तर पर बैठ गया। बाहर हवा की सरसराहट बढ़ती जा रही थी।

वह बिस्तर से नीचे उतरा और सीधा कमरे से बाहर निकल गया। बैठक में पहुंचकर वह कुछ देर खड़ा रहा। जो कुछ उसे करना था, उसके मस्तिष्क में स्पष्ट था, मगर उसके दिल की दृढ़ता डगमगा रही थी और ढलती दीवार को दृढ़ करना बहुत ज़रूरी था।

उसने होंठ भींच लिए। दांतों के बीच लहू का नमकीन स्वाद उसके मुंह में घुल गया···घुलता गया···

और फिर दस मिनट बाद जब वह अपने सोने के कमरे में वापस आया, तो लाख प्रयत्नों के बावजूद उसका दिल धौंकनी की तरह चल रहा था। नम हवा का एक तेज़ झोंका उसके तप्त मुंह को सहला गया, उसकी नज़र खुली खिड़की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

की ओर उठ गई। आकाश में एक हलकी-सी बिजली कौंध गई और फिर सब ओर अंधेरा हो गया। विनायकराव के दिल की घबराहट बादलों की गड़गड़ाहट से होड़ लेने लगी।

गड़ड़ गड्ड़ गड्गड़ ! बादलों की गरज बहुत पास आ गई। घबरा कर विनायकराव ने आगे बढ़कर खिड़की बन्द कर दी। बादलों की गरज एकाएक दूर चली गई और फिर हलकी-सी तड़प के बाद शांत हो गई।

तभी बिजली की कौंध से कमरा एकबारगी जगमगा उठा। तिपाई, रेडियो, घड़ी, ट्रंक और कमरे के बीचोंबीच चारपाइयों पर सोए कुसुम और सुधीर। एक पल के लिए विनायकराव का संसार चांदी की जगमगाहट-सा चमक उठा और फिर गहन अंधेरे ने उसे निगल लिया।

वह कुसुम के पास चला आया। झुककर उसने अंधेरे में कुसुम के चेहरे को टटोला, उसकी सांसों की गर्मी को परखा ! कुसुम सदा-सदा ऐसी ही रहेगी। वह कभी रमाबाई नहीं बनेगी। विनायकराव उसे कभी रमाबाई नहीं बनने देगा ! कभी नहीं !

कड़कड़ कड़कड़ कड़ड़ कड़ !

बादलों की तड़प के साथ ही विनायकराव के हाथ में पकड़ी लोहे की नली की तड़प भी बंद हो गई और फिर···और फिर···

बिजली एक बार फिर कड़कड़ाकर कहीं बहुत पास ऐसी जोर से गिरी कि सारा ब्रह्माण्ड कांप गया और जब बिजली गिर चुकी तो सुधीर सदा-सदा के लिए विनायकराव बनने से वंचित रह गया था।

मगर अभी काम पूरा नहीं हुआ था। लोहे की नली अभी ज़िन्दा थी, अपनी अन्तिम तड़प के लिए तैयार थी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हरी-भरी गृहस्थी

कोठी के पिछले दालान में, मैली चादर से ढकी चारपाई पर, जुगनी धूप में बैठी पान के डिब्बे को सहला रही थी और मुंह चला रही थी। आज वह खुश भी थी, और उदास भी।

खुश इसलिए कि उसकी बूढ़ी आंखें और ऊंचा सुननेवाले लगभग बहरे कान एक बार फिर बच्चों को देख रहे थे, उनका शोर सुन रहे थे। उदास इसलिए कि बड़े बाबू का यह घर अब आखिरी बार भर रहा था। उनका आखिरी काम हो चुका था, और एक, दो या तीन दिन में फिर सब सूना हो जाएगा। कोठी वीरान हो जाएगी। वीरेन्द्र, महेन्द्र, सुरेन्द्र और इन्द्रा, सब अपने-अपने घरों को लौट जाएंगे और जुगनी अकेली रह जाएगी।

जुगनी को इस घर में आए पच्चीस बरस हो चुके थे। भगवान ने उसे वह दिन भी दिखाया था जब वीरेन्द्र, महेन्द्र, और सुरेन्द्र के झगड़ों से यह घर गूंजा करता था। वह दिन भी उसने देखा था, जब मालकिन बिलखते परिवार को छोड़कर परलोक सिधारी थीं। और वह दिन भी देखा था, जब बड़े बाबू इस बड़े घर में उदास और अकेले बैठे रहते थे। पन्द्रह बड़े-बड़े कमरों की यह कोठी ऐसी वीरान रहती थी कि जुगनी को कभी-कभी डर लगने लगता था। बटेसर ने एक दिन जुगनी को बताया था कि बड़े बाबू कह रहे थे, "अब अकेला नहीं रहा जाता, बटेसर ! अब संसार में जी नहीं लगता !"

"तो बच्चों को बुला लो, मालिक। पोतों से जी लग जाएगा।"

"वे क्यों आने लगे मुझ बूढ़े के पास ? उन्हें जीवन में और बहुत-से प्रलोभन हैं।"

"पर, मालिक, आप लिखो तो। वीरेन्द्र बाबू को लिखो, बहू-बच्चों को कुछ दिन के लिए भेज दें।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मगर पत्र के जवाब में केवल पत्र आया, बहू-बच्चे नहीं आए। बम्बई से चलकर मुजफ्फरनगर आना कोई हंसी-खेल तो है नहीं कि उठे और चले आए।

सो जुगनी चारपाई पर बैठी सुबह की धूप सेंक रही थी और मुंह चला रही थी। घर की बैठक में बच्चे और उनकी बीबियां, इन्द्रा और उसके पति हरिश्चंद्र, सभी इकट्ठे होकर किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर बातें कर रहे थे। दालान में जुगनी के चारों ओर और बाहर के बरामदे में बच्चे ही बच्चे नज़र आ रहे थे। चार वर्ष का शैतान राकेश छज्जे पर चढ़कर फूलों की बेल को पकड़ने की कोशिश कर रहा था और छः वर्ष की शर्मीली चंचल अपनी गुड़िया को प्याली और चम्मच से दवा पिला रही थी ताकि उसका ज़ुकाम जल्दी ठीक हो जाए। साढ़े तीन साल का दर्शन घास पर लेटा चींटियों की कतार की परीक्षा कर रहा था और सोच रहा था कि इन चींटियों के डेडी और ममी कैसे होंगे!

तभी वीरेन्द्र मोहन कोठी की सीढ़ियों से उतरकर जुगनी की तरफ आता दिखाई दिया। उसने नीला धारीदार सूट और लाल फूलोंवाली टाई पहन रक्खी थी, और उसकी चाल में एक ऐसी अकड़ थी जो सिवाय सिपाहियों के और किसी में नहीं होती। जुगनी की चुंधी आंखों ने उसे देखते ही पहचान लिया। बचपन से देखती आ रही थी, उसके बाल-बाल से परिचित थी। क्यों न पहचानती? और आज भी उसे देखकर जुगनी के दिल में प्यार और डर की मिली-जुली भावना पैदा हुई, जो बचपन से उसे देखकर पैदा होती आई थी।

जुगनी तनकर बैठ गई; यद्यपि उसकी कमर कमान हो रही थी, फिर भी कोशिश करके उसने अपने-आपको सीधा कर लिया।

हाथ के इशारे से वीरेन्द्र मोहन ने उसे बैठे रहने को कहा। चारपाई के पास आकर वह खड़ा हो गया और हीरे की अंगूठी से चमकते अपने मजबूत हाथ से उसने बूढ़ी के कंधे को थपथपाया। "क्यों जुगनी, कैसी हो?"

"बड़े बाबू तो इस संसार से चले गए, बेटा; मैं अभी तक ज़िन्दा हूं!"

एक क्षण के लिए वीरेन्द्र मोहन का हाथ उसके कंधे से उठ गया। जुगनी को लगा जैसे एक बोझ उसके दिल से उठ गया हो। मगर अगले क्षण ही वीरेन्द्र का हाथ फिर वापस आ गया और अंतिम शब्द कहते-कहते जुगनी का स्वर आंसुओं से कांप गया।

"कुछ कहते थे पिताजी?"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"पन्द्रह दिन की बीमारी में रोज़ तुम बच्चों को याद करते थे। कभी कहते, वीरेन्द्र ज़रूर ग्राएगा। फिर ग्राप ही ग्राप कहते, कांता ने ग्राने दिया तभी तो ग्राएगा।"

वीरेन्द्र ने विषय बदलने की कोशिश की, "बीमारी कैसे ग्राई ?"

"जैसे ग्राती है बेटा !" जुगनी ने पैर खींच लिए। "बैठो बेटा, ग्रभी तक खड़े हो···बुढ़ापे में बीमारी दबे पांव ग्राती है—पता तक नहीं चलता कि कहां से ग्राई। एक दिन सुबह जगे, तो उठ नहीं सके। बिस्तर में ही लेटे रहे। ग्रगले दिन डाक्टर साहब को बुला भेजा। उन्होंने ग्राकर दवा लिख दी ग्रौर बटेसर को एक तरफ़ ले जाकर बोले, 'जरा खयाल रखना। हो सके तो बच्चों को बुला लो।'···ग्रौर बेटा, बटेसर ने उसी दिन सबको खत लिख दिए।"

कुछ देर जुगनी सामने धूप की तरफ देखती रही। सूरज की एक किरण में एक मक्खी ग्राकर निकल रही थी। बोली, "पान खाग्रोगे, बेटा ?"

"नहीं, रहने दो।" वीरेन्द्र बैठ गया। पैर पटककर बोला, "फिर ?"

"फिर बेटा, ग्रगले दिन इन्द्रा बिटिया ग्रा गई। तब भी हर दिन सुबह वह बाट देखते—वीरेन्द्र ग्राएगा, महेन्द्र ग्राएगा, शायद सुरेन्द्र ही ग्रा जाए। ग्रौर फिर एक दिन, फिर एक दिन···"

एकाएक जुगनी चुप हो गई जैसे उसमें ग्रब हिम्मत न रही हो। उसे डर था कि ग्रौर कुछ कहेगी, तो वीरेन्द्र नाराज़ हो जाएगा ग्रौर वीरेन्द्र का क्रोध जुगनी सहन न कर सकेगी। वह वीरेन्द्र से बहुत डरती थी, उसके गुस्से से कांपती थी।

"एक दिन क्या?" ग्रधीर होकर वीरेन्द्र ने पूछा। उसकी ग्रावाज़ में कप्तान की कठोरता थी जो ग्रपने ग्रधीन सिपाही से जवाब तलब करते समय ग्रकसर उसके स्वर में ग्रा जाती है।

जुगनी ने ग्रनुनय-भरी दृष्टि से वीरेन्द्र की ग्रोर देखा ग्रौर बोली, "पान खाग्रोगे, बेटा ?"

झुंझलाकर वीरेन्द्र उठ खड़ा हुग्रा। उसका हाथ उठकर ग्रपनी लाल टाई पर चला गया ग्रौर जुगनी की सांस ऊपर की ऊपर, नीचे की नीचे ग्रटक गई।

तभी बटेसर ग्रा गया ग्रौर जुगनी ने मन ही मन ईश्वर का धन्यवाद किया। उसे सम्बोधन करते हुए बोली, "बटेसर, वीरेन्द्र बेटा के लिए मटर, पनीर ज़रूर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बनाना। बहुत शौक से खाते हैं।"

वीरेन्द्र का चेहरा मुस्कराहट से फैल गया। जुगनी अभी तक जानती थी कि वह क्या चीज शौक से खाता है, यद्यपि वह चार बरस बाद आया था "अच्छा जुगनी, तो मैं चला। मुझे जरूरी काम से बाहर जाना है।"

उसके चौड़े-ऊंचे आकार को जाते देखकर जुगनी की सांस लौट आई और उसने पान का डिब्बा खोलकर पान लगाना आरम्भ कर दिया।

पान लगाकर वह मुंह में डालने ही वाली थी कि उसका हाथ कांप गया। "हमें पान नहीं खिलाओगी, जुगनी दादी ?" और अगले क्षण ही जुगनी खिल-खिलाकर हंस पड़ी। सबसे छोटा सुरेन्द्र बचपन ही से शैतान था, और शायद इसीलिए जुगनी की उससे खूब पटती थी। मुंह झुकाए, दोहरी कमर किए जुगनी की लाठी टेके, वह सुन्दर नवयुवक बूढ़ी के बिलकुल करीब आकर सलाम की मुद्रा में झुका हुआ था।

जुगनी ने कहा, "आओ, आओ, सुरिन्दर, बैठो। लो तुम खाओ पान, मैं और लगाए लेती हूं।"

"ऊंहूं, पहले तुम खाओ," सुरेन्द्र ने कहा। बुढ़िया का हाथ पकड़कर उसने जबर्दस्ती पान उसके मुंह में ठूंस दिया।

"अरे बेटा , अरे बेटा, रुको तो ..."

मगर बेटा नहीं रुका। बोला, "कहो कैसी हो, जुगनी दादी ? देखूं तो, तुम्हारी पोटली में मेरे लिए भी कुछ है या नहीं ?"

अबलगा पान डिब्बे में रखकर जुगनी इधर-उधर टटोलने लगी। सुरेन्द्र ने उसका दुपट्टा उठाकर जादूगर की-सी अदा से झाड़ा, "अहा ! तो यह सीसोंवाली लाल गुत्थी मेरी बीवी के लिए लाकर रखी होगी तुमने ? उसा को बहुत पसंद आएगी, पर तुम्हीं रखो, जुगनी दादी··· यह तुम्हीं रखो···"

जुगनी दादी मुस्करा दी। उसके होंठ कांपे और फिर आंसुओं की दो बूंदें उसकी आंखों से ढुलक पड़ीं, "जुग-जुग जियो बेटा। बड़े बाबू से चौगुना इकबाल हो तुम्हारा !" और जुगनी की ललचाई हुई उंगलियों ने सुरेन्द्र का लाया हुआ उपहार पकड़ लिया।

सिर एक ओर झुकाए सुरेन्द्र कुछ देर उसकी ओर देखता रहा। चाकलेटी रंग की पतलून, नीली कमीज, और सफेद व लाल स्वेटर के ऊपर उसका गोल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

चिट्टा चेहरा मुस्कराते-मुस्कराते एकाएक गम्भीर हो गया। बोला, "जुगनी दादी, तुम तो पिताजी के पास ही थीं ? उन्होंने जाने से पहले कुछ कहा था ?"

"हां बेटा, मैं उनके पास ही थी···" जुगनी कुछ क्षणों के लिए सोच में खो गई।

देर तक वह बड़े बाबू को मौत से लड़ते देखती रही थी। हर सुबह ग्राशा से भरी उनकी नज़रें, शायद ग्राज कोई बेटा ग्रा जाए। मगर बेटों को ग्रपने काम-धंधों से, सैर-तफ़रीह से फ़ुर्सत कहां थी जो बूढ़े बाप की फ़िक्र करते। एक दिन तो जब जुगनी उनका हाल पूछने गई थी, तो उन्होंने ग्रपना चेहरा छुपा लिया था। रुंधी ग्रावाज़ में, हाथ के संकेत से केवल इतना कहा था, "तुम जाग्रो जुगनी, तुम जाग्रो !" ग्रौर जब लड़खड़ाते कदमों से वह कोठी से बाहर निकली थी, तो उसकी ग्रांखें भीग रही थीं ग्रौर वह चाह रही थी, ग्रब तो भगवान बाबू को उठा ले। ग्रब तो उनका दुख देखा नहीं जाता।

"बहुत दुखी थे बड़े बाबू !" जुगनी ने कहा। "हरी-भरी गिरस्ती होते हुए भी ग्रादमी ग्रकेला मरे तो दुख की बात है ही बेटा। वह तो इन्द्रा बेटी ग्रा गई, वरना उनकी मिट्टी भी नौकरों के हाथ किनारे लगती।"

"मेरे लिए कुछ कहते थे ?"

"हां। कहते थे, सुरिन्दर तो ऐसा बुरा न था···"

"क्या करूं, जुगनी दादी ? एक दवा खरीद बैठा, जिसके दाम घटते जा रहे थे; जल्दी से बिक जाए, इसीलिए मारा-मारा फिर रहा था। बस, सौदा पक्का किया ग्रौर चला ग्राया। मुझे मालूम होता कि पिताजी···"

एकाएक सुरेन्द्र का गला भर ग्राया। वह वहीं चारपाई पर बैठ गया ग्रौर रूमाल से उसने ग्रांखें ढांप लीं। जुगनी ने सुरेन्द्र के कंधों को थपथपाया, "नहीं बेटा, रोते नहीं। जी हलका नहीं करते। जो होना था, सो हो गया···"

केवल महेन्द्र जुगनी के पास नहीं ग्राया। जुगनी की ग्रांखें रह-रहकर कोठी की सीढ़ियों की ग्रोर उठ जातीं, मगर दस बज गए, ग्यारह बज गए, धूप बिलकुल सिर पर ग्रा गई—ग्रौर थककर, निराश होकर जुगनी चारपाई पर लेट गई।

काश, बच्चे बड़े बाबू के रहते ही ग्रा जाते !

इन्द्रा ग्रपने तीने बच्चों समेत उसी दिन ग्रा गई थी, जिस दिन उसे बटेसर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

का पत्र मिला। दो दिन बाद उसके पति भी आ गए। बीमा कम्पनी में अफ़सर थे, मगर उन्होंने बहाना नहीं किया कि काम है, छुट्टी नहीं मिल सकती। जमाई थे, एक-दो बहाने कर सकते थे, मगर बेटों से अच्छे थे तभी तो फ़ौरन आ पहुंचे। रात-दिन लगकर बड़े बाबू की सेवा की। दवाओं की खोज में भागे-दौड़े। खुद पायताने बैठकर पांव दबवाते रहे। और जब-जब बड़े बाबू की आंख खुलती, उन्हें देखकर एक क्षीण-सी मुस्कराहट उनके चेहरे पर खिल उठती और वह फिर आराम से सो जाते। तभी तो उस दिन—उस अंतिम दिन जब उनकी यात्रा शुरू होने वाली थी—बड़े बाबू ने वकील साहब को बुला भेजा था। बहुत देर तक वकील साहब और बड़े बाबू कमरे में बंद बातें करते रहे थे और···

महेन्द्र उसके पास नहीं आएगा, जुगनी ने सोचा। वह कभी जुगनी के पास दौड़कर नहीं आया, हमेशा जुगनी ही उसके पास गई है। फिर आज वह क्यों आएगा? वह खुद ही उठकर उसके पास जाएगी। सुबह का आया हुआ महेन्द्र दोपहर तक जुगनी ने नहीं देखा। न जाने कैसा होगा महेन्द्र?

जुगनी ने झुककर अपनी लाठी उठाई और चारपाई से उतरकर खड़ी हो गई। आंगन में अब कोई बच्चा नहीं था। सुनसान आंगन दोपहर की धूप में शांत पड़ा था। इस समय महेन्द्र के पास जाना ठीक होगा।

अनिश्चय में खड़ी जुगनी के कंधे पर तभी एक स्पर्श हुआ और बटेसर की आवाज़ आई, "चल जुगनी, खाना खा ले।"

जुगनी की आंखें घूमकर बटेसर पर टिक गईं जैसे बटेसर में कुछ ऐसा भेद छिपा हो जिसे वह पाना चाहती है। उसकी बूढ़ी आंखों ने बहुत कुछ देखा था, मगर बटेसर अभी नादान था, बच्चा था; वह जुगनी की आंखों की भाषा क्योंकर समझता। लड़खड़ाते कदमों से जुगनी बटेसर के पीछे-पीछे खाना खाने चल दी। महेन्द्र को वह मिलेगी मगर अभी नहीं। अभी वह खाना खाकर सो रहा होगा और जगाए जाने से उसे सख्त नफ़रत है···

× × ×

···अंधेरे संसार में उजाले का दर्द-भरा स्पर्श। दोपहर के सन्नाटे के बाद एका-एक बच्चों का चहकना। नींद की अकुलाहट से शिथिल अंग।

जुगनी अपनी चारपाई पर उठकर बैठ गई। न जाने कब और कैसे वह ऊंघ गई थी। अब वह सचमुच बूढ़ी हो गई है। उसे पता नहीं चलता, कब आंखें

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

झप जाती हैं, कब एक दुनिया ओझल होकर दूसरी दुनिया आबाद होती है, कब थके अंग अलसाकर सो जाते हैं। उसे कुछ भी तो पता नहीं चलता। आंखें भी तो कम देखने लगी हैं उसकी।

नज़र उठाकर उसने देखा। सामने कोठी की सीढ़ियों से कोई उतर रहा था। हां, बटेसर था वह। उसीके पास आ रहा था। कंधे पर अंगोछा डाले, गंभीर-सी मुद्रा बनाए वह जुगनी के पास पहुंचकर खड़ा हो गया।

"क्या है बटेसर?"

"सरकार बुला रहे हैं।"

"कौन सरकार?"

"सभी। वकील बाबू आए थे, अभी-अभी गए हैं—सो तुम्हारी तलब हुई है।"

'चलो अच्छा हुआ,' जुगनी ने सोचा। 'महेन्द्र को देख लूंगी।'

आंचल से आंखें पोंछती हुई जुगनी खड़ी हुई और फिर चल पड़ी। कत्थई रंग की धोती में उसका बदन कितना छोटा और असहाय-सा दीख रहा था।

खाने के कमरे से आवाज़ आ रही थी। वीरेन्द्र की आवाज़, सुरेन्द्र की आवाज़, इन्द्रा की आवाज़। जुगनी ने दरवाज़े के बाहर, लाल फूलों के नीले परदे के पास खड़े होकर अपनी धोती संवारी और अंदर चली गई।

"दिमाग ठिकाने होता तो···?" वीरेन्द्र कह रहा था। जुगनी को देखकर एकाएक वह चुप हो गया। जुगनी ने देखा, इन्द्रा का मुंह कुछ कहने के लिए खुला, मगर फिर जुगनी को देखकर वह भी चुप हो रही।

जुगनी ने महेन्द्र को खोजना चाहा। शांता, रूपरानी, उमा, इन्द्रा, वीरेन्द्र, सुरेन्द्र और···हां, यह महेन्द्र था। पीली टाई उसकी उजली कमीज़ पर चमक रही थी और उसके मुंह पर वही घमंड, वही ऐंठ, वही कमीना-सा भाव था जिसे वह जानती थी। जुगनी ने चाहा, वह महेन्द्र से पूछे, कैसे हो बेटा? मगर शब्द उसकी छाती में ही अटककर रह गए।

जुगनी खड़ी रही।

अब जुगनी की निगाहें जमाई बाबू के चेहरे पर जम गईं। वहां जुगुनी को अवहेलना नहीं मिली, शायद इसीलिए जमाई बाबू उसके सम्बल बन गए।

मगर कोई एक भी शब्द नहीं बोला।

और कत्थई रंग की धोती में लिपटी जुगनी खड़ी रही।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जुगनी को ठीक नहीं लगा कि वह जमाई बाबू की तरफ ही देखती रहे। सो जुगनी की आंखें वहां से हटकर चाय की मेज पर अटक गईं—प्यालियां, प्लेटें, चायदानी, चम्मच, बचे-खुचे पकौड़े और पापड़…

"जुगनी !"

जुगनी की आंखें छिटककर महेन्द्र के चेहरे पर जा पहुंचीं। चिकना गोल चेहरा, नाक की नोंक का अजीब-सा टेढ़ापन और होंठों के झुकाव में एक ऐसा भाव जो पुकार-पुकारकर कह रहा था कि मैं जानता हूं, तुम क्या हो ! मुझसे कुछ भी छुपाने की चेष्टा व्यर्थ है—व्यर्थ है —बिलकुल व्यर्थ है !

आज तक इस चहरे के सामने वह अकड़कर, तनकर खड़ी रही थी। मगर आज न जाने कैसे अपने बड़े भाई वीरेन्द्र मोहन की अकड़ और उसका अपना कमीनापन महेन्द्र पर पूरी तरह चढ़ गया था। इस कमीनेपन को वह आज तक सह सकी थी, क्योंकि वह भाव जुगनी के लिए कभी महेन्द्र के चेहरे पर न आया था। मगर आज…जुगनी का हृदय आशंका से कांपने लगा।

"मुकारकवाद हो जुगनी ! तुम इस घर की मालकिन बन गई हो !"

जुगनी की नज़रें हैरानी से सभी चेहरों पर घूम गईं। आज यह क्या हो रहा है ? महेन्द्र यह क्या कह रहा है ? उसे कुछ भी समझ में न आ रहा था। मालिक तो चले गए और घर…घर तो तुम्हारा है। फिर यह मुबारकबाद कैसा ?

वीरेन्द्र की पत्नी शांता का सुंदर चेहरा जुगनी को न जाने क्यों आज सुंदर नहीं लग रहा था यद्यपि उसकी नीली साड़ी पीले ब्लाउज पर बहुत ही प्यारी लग रही थी। शांता इस घर की सबसे बड़ी और सबसे सुंदर बहू थी। उसकी ठोड़ी की सुघड़ता और नज़र का भोलापन जुगनी के दिल पर जादू का-सा असर करता रहा था। मगर आज शांता के हाथों की उंगलियां बड़ी व्यग्रता से उसकी गोद में गडमड हो रही थीं।

"तो क्या तुम समझते हो, महेन्द्र भाई, कि जुगनी दुधमुंही बच्ची है ?" शांता की आवाज़ की तीव्रता विष से बुझी थी। "वह सब कुछ जानती-बूझती है। तुम उसे क्या बता रहे हो ?"

रूपरानी ने शांता के कंधे पर हाथ रख दिया। शांता चुप हो गई।

जुगनी के दिमाग में कुछ अजीब-सी उथल-पुथल हो रही थी। एकाएक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उसने महसूस किया, वह बैठ सके तो कितना अच्छा हो। ये बच्चे मौत के इस घर में मुझे मुबारकबाद क्यों दे रहे हैं ? यह सब मामला क्या है ?

"महेन्द्र भाई···"

जमाई बाबू की आवाज़ बहुत कोमल और दबी हुई थी, जैसे दया के लिए भीख मांग रहे हों। जुगनी के दिल का समस्त स्नेह जमाई बाबू के इस एक शब्द पर न्योछावर हो गया। उसके शरीर में नई शक्ति का संचार हुआ—और झुकी कमर लिए खड़ी भी जुगनी कुछ आराम पा गई।

"महेन्द्र भाई, बुढ़िया पर रहम करो। गरीब को क्यों सता रहे हो ?"

"आस्तीन के सांप को आप गरीब कहते हैं ?" वीरेन्द्र की तीखी आवाज़ कमरे में गूंज उठी और उन सभीके ऊपर चढ़कर मंडराने लगी। "आप यह नहीं सोचते कि हम सब क्या मुंह लेकर संबंधियों-मित्रों के सामने जाएंगे। लोग हमारे सामने चुप रहेंगे, झूठी सहानुभूति करेंगे, हमारे पिता का गुण गाएंगे··· और पीठ पीछे वे हंसेंगे, फबतियां कसेंगे। बुड्ढे को सफ़ेदी में कालिख लगानी ही थी, तो क्या यह बूढ़ी नौकरानी ही रह गई थी···नौकरानी के नाम कोठी लिख गए हैं···वाह !"

जुगनी के कानों में मानो सीसा उंडेला जा रहा हो। सफ़ेदी में कालिख··· बूढ़ी नौकरानी···नौकरानी के नाम कोठी···उसका दिमाग भन्ना उठा, उसकी आंखें भरकर रह गईं। सभी चुप थे, जैसे उन्हें सांप सूंघ गया हो। इंद्रा बिटिया मुंह में रूमाल दबाए आंखों में आंसू लिए बैठी रही। सुरेन्द्र अनजान बनकर खिड़की से बाहर झांकने का अभिनय करता रहा—हालांकि खिड़की पर मोटा परदा लटक रहा था।

जुगनी ने मुंह फेर लिया।

भगवान जानता है, यह घर और ये बच्चे, मैंने इन्हें कभी पराया नहीं समझा। इन बच्चों को इत्ता-इत्ता बढ़कर बड़े होते मैंने देखा है। इनका लाड़ भी किया है और इन्हें धमकाया भी है। मगर·· मगर ये बच्चे ऐसे···ऐसे क्यों निकले हैं ? शायद मेरे करम ही ऐसे हैं। मालकिन इस भरी-पूरी गिरस्ती को छोड़कर चली गईं तो जी तोड़ मेहनत करके इसे चलाती रही। बड़े बाबू से मैंने कुछ भी नहीं चाहा। पर उन्होंने खुद ही मुझ गरीब पर तरस खाकर मेरे बुढ़ापे की ठौर लगा दी। उन्हें क्या पता था कि उनके बच्चे इतने नीच हैं···

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

एकाएक जुगनी का दुख क्रोध बनकर उबल पड़ा। वह मुड़ी और एक बार फिर बच्चों के सामने आ गई। बूढ़े शरीर को संभालकर वह तनकर खड़ी हो गई और उसे ऐसा महसूस हुआ जैसे ये बच्चे जवान, समझ-बूझवाले वयस्क नहीं हैं, अब भी अनजान-अबूझ बच्चे हैं और वह खुद वही जुगनी है जिसके बिना उनकी जुगत नहीं है।

"तुम्हें लाज नहीं लगती ? तुम क्या सचमुच बड़े बाबू के बच्चे हो ?"

जुगनी की आवाज़ धीमी थी, मगर उसकी दृढ़ पवित्रता के सामने कमरे का सारा विष सिमटकर रह गया। वीरेन्द्र अवाक् ताकता रह गया। महेन्द्र ने कुछ कहने के लिए मुंह खोलना चाहा, मगर जुगनी के हाथ का संकेत पाकर वह चुप रहा।

केवल सुरेन्द्र के चेहरे पर क्रोध की लालिमा दौड़ गई, "जुगनी ! तुम यह क्या कह रही हो ?"

"ठीक कह रही हूं, सुरिन्दर, तुम सब कहां मर गए थे जब बड़े बाबू बिस्तर पर पड़े मौत की घड़ियां गिन रहे थे और तुम्हारा इंतज़ार कर रहे थे ? उनके आखिरी दिनों में किसने उनकी सुध ली थी ? मुझ गरीब पर तरस खाकर, मेरी उमर-भर की सेवा का ख्याल करके बड़े बाबू ने मेरे बुढ़ापे का प्रबंध कर दिया, तो तुम उनके नाम पर कलंक लगाने लगे हो। यह नहीं सोचते कि अपनी रंगरलियों से अगर तुम्हें फुरसत होती, तो यह सब न होता जो हुआ है। बड़े बाबू के प्रान दुख में तड़प-तड़पकर न निकलते। हरी-भरी गिरस्ती के होते हुए भी वह निपट अकेले इस बड़े घर में दम न तोड़ते।"

क्रोध के बावजूद जुगनी की आंखों में आंसू आ गए। साड़ी के छोर से उसने उन्हें पोंछ लिया।

"मैं जानती हूं उनके क्लेश को। और इन्द्रा बिटिया जानती है। मगर तुम्हें इन सब बातों से क्या लेना-देना ? तुम्हें तो सिरफ कोठी से मतलब है ना ? तो लो, इस कोठी को तुम्हीं रक्खो—मुझे नहीं चाहिए कोठी। इतनी बड़ी दुनिया में मुझे कहीं न कहीं ठौर मिल ही जाएगी।"

और सबको अवाक् छोड़कर जुगनी कमरे से बाहर हो गई।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

इड़ा, पिंगला··

आपने जंतरी खरीदी है ? क्यों, कैसी है ? वही बातें होंगी, वही; कुछ झूठा, कुछ सच्चा, कुछ गप्प, कुछ गपोड़े । देखिए तो, यहां मेरठ शहर के अड्डे पर बस आध घंटा भी नहीं खड़ी हुई और उस हरकारे ने इस बीच पंद्रह कापियां बेच लीं।

जी नहीं, मैं जंतरी नहीं देखता । नज़र-भर डालने के लिए भी नहीं । बहुत दिन हुए, मैंने जंतरी को हाथ तक लगाना बंद कर दिया है । इंसान वहमी हो जाता है इसे देखने से । फायदे से ज़्यादा नुकसान होता है इंसान का ।

हां, चार साल पहले मेरी ऐसी हालत थी कि घर से बाहर निकलता था, तो जंतरी देखकर; कोई काम करता था, तो जंतरी देखकर । इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के असूलों को मानकर चलता था । कभी-कभी ऐसा भी होता था कि शुभ कारज के लिए घर से बाहर जाना होता तो सांस देखकर एकाएक लगता, अप-शगुन होने जा रहा है। बस, यही सोचकर जाना स्थगित कर देता; फिर सोचता, जाना तो पड़ेगा ही । अशुभ होगा, तो न जाने से टलने वाला वह नहीं है । बस, दुविधा के पाटों के बीच पिसता हुआ; दिल में डर को समेटे बाहर निकलता। सारा दिन—और कई बार सप्ताह-सप्ताह-भर, महीना-महीना-भर वहम के बीच मेरी सांस अधर में लटकी रहती । लड़की सुखी रहे जिसके ब्याह में आशीर्वाद देकर आया हूं; संतान आनंद से जिए, जिसके जन्म पर प्रसन्न माता-पिता के आशा-भरे नयनों में जोत जली देखकर आया हूं; घर खुशी के कहकहों से गूंजता रहे, जिसकी ड्योढ़ी को गुरु-वचनों के संगीत से पवित्र करके परिवार का गृह-प्रवेश करवाया है ।

कितना वक्त हुआ है आपकी घड़ी में ? साढ़े बारह ! अभी तो कम से कम दो घंटे और हैं दिल्ली पहुंचने में । बहुत देर लगती है । समय काटना है, सो बातों-बातों में कट जाएगा ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मैंने आपको देहरादून में देखा था। इस बस में सीट नहीं मिल सकी थी आपको वहां। अब आपने यहां आ पकड़ी। अच्छा किया—ज़रा तकलीफ़ तो बेशक हुई, मगर समय बच गया।

हमारे बुजुर्गों ने यह विद्या सोच-समझकर बनाई थी। विद्या में सच्चाई भी बहुत है। बहुत मनन किया है मैंने—काफ़ी गहराई से इस विद्या को पढ़ा है। मैं समझता हूं, विद्या को पैसे कमाने का साधन बनाकर इस विद्या के साथ काफ़ी अन्याय हुआ है।

आप तो जानते ही हैं। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना—नाड़ी और स्वर की तीन स्थितियां हैं। जब बाईं नाड़ी चलती हो, यानी सांस केवल बाईं नासिका से ही आता हो, तो इड़ा कहलाती है। दाहिनी ओर से सांस आए, तो पिंगला। और अगर दोनों नासिकाओं से सांस आए—तो ऐसी स्थिति को सुषुम्ना कहते हैं।

दान, विद्यार्जन व उत्तम-शुभ कर्मों के लिए इड़ा, क्रूर कार्यों के लिए पिंगला—और भोग और मोक्षदायक कार्यों के लिए सुषुम्ना—सांस की तीनों स्थितियों की अपनी-अपनी विशेषताएं हैं।

आपको विश्वास नहीं है? ठीक है, विश्वास से लाभ भी नहीं है। क्या होगा इन बातों में विश्वास करके। मगर चूंकि बात चल पड़ी है, तो अपनी ज़िन्दगी की ही एक घटना सुनाता हूं। सुनकर आप खुद जो नतीजा चाहें निकाल लें। मैं तो बस एक बात कहूंगा—यह घटना मेरे जीवन की एक बहुत अहम घटना है। इस घटना ने मुझे यह पाठ दिया कि इंसान बहुत तुच्छ जीव है, भगवान के ऐश्वर्य को वह नहीं पहुंच सकता। बस, उसके गौरव का दर्शनमात्र ही वह कर पाता है—और वह भी कभी-कभी।

उन दिनों मैं रूपड़ के गुरुद्वारे में ग्रंथी था। एक दिन दोपहर को एक बीबी 'अरदास' के लिए आई। मैं अकेला था। वह अकेली नहीं थी; उसके साथ तीन-चार दासियां थीं। उन्हें बाहर जाकर बैठने के लिए कहकर वह मुझसे बोली, "भाई जी, मैं विपदा की मारी हूं। आपसे सलाह चाहती हूं।"

छोटे शहरों के गुरुद्वारे आप जानते हैं, कितने व्यक्तिगत-से होते हैं। वहां जो भी आता है, उसे गुरुद्वारे के सभी ग्रंथी जानते हैं, सभी सेवादार उसके भाई-बाप-दादा की जानकारी रखते हैं। मगर मैं नया-नया आया था, इसलिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मैं नहीं जानता था, यह बीबी कौन है। मगर ग्रंथी को इससे क्या ? वह तो वाहगुरू के बंदों की सेवा के लिए ही है !

बीबी की उम्र लगभग तीस की थी। बहुत ही मासूम-सा चेहरा था उसका। बालों से घिरे उस चेहरे में नाक की कील पर लगे हीरे की जगमगाहट और उसकी आंखों की मासूमियत—दोनों में से किसने मुझपर अधिक प्रभाव डाला, यह मैं नहीं कह सकता। रेशम की गुलाबी साड़ी पर तिल्ले का नफ़ीस काम था और उसके हाथ अरदास में बंधे थे। उसकी कलाइयों पर भारी जड़ाऊ कंगन थे जो लगभग कुहनी तक पहुंचते थे।

मैंने कहा, "कहो बीबी, निस्संकोच होकर कहो। अपने तईं मैं भरसक प्रयत्न करूंगा कि तुम्हारी तकलीफ़ को दूर कर सकूं।"

बीबी ने मुड़कर अपने पीछे देखा—बाहर धूप छिटक रही थी। उसकी दासियों का जमघट दूर आंगन के छोर पर दिखाई दे रहा था।

वह मेरी ओर मुड़कर बोली, "भाईजी, मुझे बचाइए। आपको गुरु की सौं है—जो यह बात आप किसीसे कहें। मेरे भाई को इसकी भनक भी पड़ गई तो वह मुझे मार डालेगा।"

"बीबी, तुम निश्चिंत होकर कहो। गुरु ग्रंथ साहब की सौगंध, तुम्हारी बात वाहगुरू के सिवाय और कोई नहीं जानेगा।"

"भाई जी, मैं आपके पास इसलिए आई हूं कि आपको मेरा भाई नहीं जानता। मेरी भाभी से आप वाकिफ़ नहीं हैं। शायद आप नहीं जानते, यहां से पंद्रह मील उत्तर की तरफ एक रियासत है, चंदरगढ़। उसके ज़मींदार राजा ध्यानसिंह की मैं रानी हूं।"

"हमारे धन्न भाग हैं, बेटी, कि तुम हमारे पास सलाह के लिए आई हो।"

"काश कि मैं भी अपने भाग्य को सराह सकती ! मेरी शादी को दस साल हो गए, मगर मेरे कोई बाल-बच्चा नहीं हुआ। राजाजी को इसकी रत्ती-भर चिंता नहीं है। वह देवता हैं, कहते हैं, 'बाल-बच्चा नहीं है न सही, वाहगुरू को मंजूर नहीं होगा।' दस साल में आज तक उन्होंने चेहरे पर एक शिकन नहीं डाली। मगर उनकी बूढ़ी मां बहुत दुखी है। कहती वह भी कुछ नहीं, मगर उसका दुख मुझसे नहीं देखा जाता। एक दिन मैंने सास जी से कहा, 'मां जी, आप इनका ब्याह कर दीजिए। कहिए, तो मैं लड़की देख लूं।' मांजी ने कुछ नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कहा, आंखें पोंछती हुई एक ओर चली गई। तब से बराबर मुझे यही लगन लगी हुई है कि राजाजी का दूसरा ब्याह हो जाए, उनका लड़का मैं अपनी गोद में खिलाऊं, तो मेरी यह ज़िंदगी सफल हो जाए, इसमें बहार आ जाए, इसमें जो उदासी आ गई है, वह दूर हो जाए।

"और मैंने लड़की की तलाश शुरू कर दी। चुपचाप, राजाजी की सलाह के बिना ही मैं यहां मायके में अपने भाई के पास आ गई। एक-दो जगह बात-चीत चलाई, तो भाभी के कान में भनक पड़ गई। और इसके साथ ही मेरी विपदा शुरू हो गई।

"मेरी भाभी ने मुझे बहुत डांटा। बोली, 'तू सुदैन हुई है! तुझे बिलकुल अकल नहीं है। तेरे भाई ननदोई जी की ज़मीनें जोतते हैं। जी-तोड़ मेहनत करके वह अपना गुज़ारा कर रहे हैं। तेरे दो छोटे-छोटे भतीजे हैं। उनका क्या होगा, कभी कुछ सोचा है? तू ननदोई जी की दूसरी शादी रचा रही है। उनका लड़का हो जाएगा, तो हमारा तो सत्यानाश ही हो जाएगा। जानती है, हम फिर दर-दर के मोहताज हो जाएंगे?'

"मैं फिर भी कुछ नहीं समझी, ग्रंथीजी। मैं अकल की मारी, मुझे क्या पता कि मेरे भाई-भाभी किस आस में बैठे हैं। पर मेरे भाई ने उस रात मुझे सब कुछ समझा दिया, 'राजा जी की दूसरी शादी नहीं होगी, हरगिज़ नहीं होगी। और सुन लाडो, तेरे बच्चा होगा। हां, तेरे बच्चा होगा।'

"बावरी की तरह मैंने भाई की तरफ़ देखा। 'मेरे बच्चा होता, तो फिर बात ही क्या थी,' मैंने कहा।

"'तेरे बच्चा होगा, लाडो, तेरे बच्चा होगा।' भाई ने सख़्ती से कहा, और दाढ़ी के ऊपर उसकी बड़ी-बड़ी काली आंखें छत की तरफ उठ गईं, जैसे वहां उसे कुछ विशेष दिखाई दे रहा हो।

"मुझे भाई से हमेशा डर लगता है। वह मुझसे दस बरस बड़ा है, हमेशा मुझे मारता-धमकाता रहा है। मगर उस रात उसकी आंखों को देखकर मेरे दिल में सहम समा गया। आंखें बंद किए, ओढ़नी में अपने मुंह को छुपाए मैं देर तक रोती रही। खाना मैंने उस रात नहीं खाया, हालांकि भाभी ने बच्चों को खिलाकर सुला दिया और मेरे पास आकर बहुत लाड़ से बोली, 'चल, सतवंती, उठ, खाना खा ले। उठ मेरी बहन, चल, भूखे नहीं सोते।'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"जब फिर भी मैं नहीं हिली, तो भाभी चली गई। फिर रसोई की देख-भाल की आवाज़ें खत्म हो गईं। लालटेन की रोशनी भाई के कमरे में चली गई। भाई-भाभी बातें करते रहे, न जाने क्या खुसर-पुसर चलती रही। मैं दुख की मारी, मेरी आखिर आंख लग गई।

"बहुत रात गए, मैं जगी। मेरे साथ कोई सो रहा था। मैं हड़बड़ाकर उठ बैठी, चीखने लगी कि एक हाथ मेरे मुंह पर आ गया। चूड़ियों की खनक में भाभी की आवाज़ आई, 'मैं हूं, बावरी! चल, लेट।'

"'मैं तो डर गई।' मैंने हांफते हुए कहा।

"भाभी मेरे साथ लिपट गई। बड़े प्यार से मेरे माथे पर हाथ फेरा। मेरे बदन को सहलाया, जैसे मां अपने बच्चे को दुलराती है। 'तेरा दिल अब भी तेज़ी से धड़क रहा है, सतवंती।'

"'हां, भाभी, मैं तो सांस नहीं ले पा रही।'

"बहुत-सी इधर-उधर की बातें करती रही मेरी भाभी। हम दोनों के शरीर आपस में सटे थे। रज़ाई में ढके हम ननद-भौजाई···जीवन में पहली बार मुझे भाभी का स्नेह मिला था। मैं भीज गई थी।

"तभी भाभी ने मेरा हाथ खींचकर अपने पेट पर रख दिया। मैंने महसूस किया, मेरे पेट की तरह भाभी का पेट सपाट नहीं है। उसमें गोलाई है, तनाव है, हलका-सा उभार है। मैंने अपने हाथ को धीरे-धीरे हिलाया। भाभी बोली, 'सतवंती, मेरी बात मान। हठ न कर। मेरे बाल-बच्चा होने वाला है। तू राजाजी को लिख दे—तेरे रह गया है। बाकी सब मैं और तेरा भाई संभाल लेंगे। मुश्किल करेगी, तब भी यह होकर रहेगा—आसान करेगी, तो हमारी असीसें लेगी, खुश रहेगी। बोल, तुझे मंजूर है?'

"ग्रंथीजी, कुछ देर पहले की मेरी सारी प्रसन्नता खत्म हो गई। मैंने कानों पर हाथ धर लिए जैसे मैंने कुछ भी न सुना हो। भाभी ने मेरे हाथ अपने हाथों में ले लिए। 'मैं तेरे पेट पर कपड़ा बांध दूंगी। बाहर निकलेगी, तो कपड़ा बांधकर निकलना। किसीको पता नहीं चलेगा कि मेरे हो रहा है या तेरे। रही दाई, सो उसको मैं संभाल लूंगी।'

"मुझे राजाजी की याद बेतरह सताने लगी। मुझे लगा, मैं राजाजी को मिलूं, उनसे दो शब्द कहूं-सुनूं। पर···ग्रंथीजी, मैंने अपना दुख झटक दिया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

भाभी के चिकोटी काटकर बोली, 'एक शर्त है, भाभी !' भाभी हंस पड़ी, 'वह क्या ?' 'मैं और राजाजी···भाभी, मैं उनके पास हो आऊं···बस एक हफ्ता···फिर मैं यहां आ जाऊंगी और तू जैसे चाहे कर लेना।' भाभी एका-एक गंभीर हो आई। 'तू नहीं आई, तो ?' 'जरूर आऊंगी, भाभी। सच कह रही हूं। और यह ज़रूरी भी है—तू यह क्यों नही समझती ?'

" 'तो यह क्यों नहीं कहती, ननदोई जी की याद आ रही है। अच्छा सतवंती, मैं तेरे भाई को मना लूंगी। पर देख··' इतना कहकर वह रुक गई। मैंने उसे बांहों में भींच लिया और उसके होंठों को चूम लिया। उसका संशय दूर करने का मुझे कोई दूसरा उपाय न सूझ रहा था।

" सो, ग्रंथीजी, मैं राजाजी के पास अपने घर आ गई हूं। तीन दिन हो गए हैं मुझे यहां आए—बस, चार दिन और हैं। फिर क्या होगा, कुछ समझ में नहीं आता। पर राजाजी बहुत खुश हैं। कल कह रहे थे, 'सतवंती, तू यहां नहीं होती तो काम में दिल नहीं लगता। घर उदास-उदास लगता है।' मेरा दिल रो दिया; मुझे आनेवाले दिनों का खयाल हो आया था—अब तो जिन्दगी-भर आपको मेरे बिना रहना है, उसका उपाय आपको करना ही पड़ेगा—मैंने मन ही मन कहा। फिर सूखे होंठों पर मुस्कराहट लाकर बोली, 'मैं जाती कहां हूं। बस, कुछ दिन और भाई के पास रह आऊं फिर आपके पास ही तो हूं।'

" ग्रंथी जी, एक-एक दिन मुझपर सिल की तरह भारी हो रहा है ! मुझे कुछ सूझ नहीं रहा है - क्या करूं, क्या न करूं। आप मुझे रास्ता बताइए—आप मेरे अंधेरे रास्ते पर रोशनी डालिए।"

"वाहगुरू के उपाय निराले हैं—वह कोई न कोई रास्ता अवश्य निकाल देगा।" मैंने कहा। इसके सिवा मेरे पास कहने को था भी क्या ?

"ग्रंथी जी, मैं वाहगुरू की सौं खाती हूं, मैं मर जाऊंगी, राजाजी को धोखा नहीं दूंगी। हरगिज़-हरगिज़ नहीं दूंगी। वह मेरा इतना मान करते हैं, वह देवता हैं, देवता को कोई धोखा दे सकता है ? नहीं, ग्रंथीजी, मुझसे यह नहीं होगा। कोई रास्ता बताइए, वरना मैं जहर खा लूंगी—सच कहती हूं, मैंने यह फैसला कर लिया है कि मैं मर जाऊंगी मगर राजाजी का नेह नहीं तोड़ूंगी।"

"वाहगुरू ! वाहगुरू ! यह क्या कहती हो बीबी ?" मैंने कहा। मेरी आवाज में कठोरता आ गई। मैं सचमुच घबरा गया था। "मुझे सोचने दो, कुछ वक्त

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सोचने दो, वाहगुरू की दया से कोई न कोई रास्ता ज़रूर निकल आएगा।"

वह दिन मेरा बेहद चिंता में कटा, उस रात मुझे नींद नहीं आई। करवटें बदलते-बदलते एक पहर बीत गया। आंखें बंद करता, तो बीबी की मासूम आंखें मुझे कुरेदने लगतीं और आंखें खोलता तो बीबी के शब्द मेरे कानों में गूंजने लगते, 'ग्रंथीजी, मैं ज़हर खा लूंगी।' आखिर मैं उठकर चारपाई पर बैठ गया। मन को समझाने लगा, इसमें मैं कर ही क्या सकता हूं। बीबी के भाई-भावज को मैं जानता नहीं, जानूं भी तो उनका मन मैं कैसे बदल सकता हूं? बीबी अपने पति को धोखा नहीं देना चाहती; वह भी ठीक कहती है। तो फिर·· तो फिर क्या बीबी की मौत ही इस सवाल का हल है?

मैं उठकर टहलने लगा। गुरुद्वारे के आंगन में अन्य ग्रंथी, सेवादार सोए-पड़े थे। सरदार हरनामसिंह नींद में बड़बड़ा रहा था, "हां, हां, मैं तुझसे माफ़ी मांगता हूं—वाहगुरू की सौगंध।" उसकी बीबी उससे रूठकर मायके चली गई थी, शायद उसीको सपने में मनवा रहा था। सरदार मनजीतसिंह की नाक बज रही थी। आंगन के दरवाज़े के पास एक बिल्ली सोई पड़ी थी। दूज का चांद आसमान में तिरते बादलों के बीच अपनी यात्रा पर न जाने कहां चला जा रहा था।

मेरी तबियत भारी हो रही थी। बहुत देर तक मैं टहलता रहा। हवा के झोंके मेरी खुली दाढ़ी में अटकते रहे। आसमान की गहराइयों में मेरा दिमाग़ भटकता रहा।

उस रात मुझे नींद नहीं आई; एक-दो बार बिस्तर पर जाकर लेटा भी, आंखें मूंदकर सोने की कोशिश भी की, लेकिन नींद नहीं आई।

और फिर आसमान के छोर पर हलकी-सी रोशनी उजागर हुई। गहरे नीले आसमान का रंग धुलकर हलका होता गया। हवा के ताज़े झोंके···चिड़ियों की चहक···जीवन के अथाह आनंद के कुछ क्षण···

न जाने कितनी देर तक मैं इस तंद्रा में डूबता-उतराता रहा। शरीर से परे, संसार के क्षितिज से भी परे, मेरा आत्मा पंछी की तरह नीलाहट में गोते खाता रहा। रात का सारा दुख, सारा कलुष एकाएक मुझे छोड़ गया था···और मैं पवित्र होकर चरणामृत की तरह वाहगुरू की अरदास में बिखर गया था।

मेरे पांव मुझे आपसे-आप ग्रंथ साहब के पास ले गए। दिये का प्रकाश कमरे में हलका होता जा रहा था। रात और दिन यहां साथ-साथ मौजूद थे। तख्त-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पोश के पास पहुंचकर मैं रुक गया। एकाएक मेरी नज़र रुक गई थी—लाल चुनरी पहने एक बीबी अरदास में झुकी हुई थी।

"सत सिरी अकाल ग्रंथीजी !"

"सुखी रहो, बेटी !" मैंने यंत्रवत् कहा। जिस बीबी के दुख से दुखी मैं सारी रात बेचैन रहा था, उसकी आंखों में कुछ देर मैं देखता रहा। कमरे के अंधेरे-उजाले में दिये की लौ से उलझती दिन की रोशनी में मुझे उन आंखों में कुछ अलौकिक अनुभूति दिखाई दी। बड़ी-बड़ी बरौनियों के नीचे निर्मल सफेदी में तैरती काली पुतलियां। जिनमें कल मैंने शिकारी के सामने भागती हिरनी का डर देखा था, वहां आज शांति थी; जहां तूफ़ान देखा था, वहां उषाकाल की धीमी बयार बह रही थी।

और एकाएक न जाने मुझमें क्या हुआ कि मैंने आगे बढ़कर बीबी के सिर पर हाथ रख दिया, "चिंता न कर, बेटी। तेरा सारा कष्ट दूर हो जाएगा, तेरी गोद भर जाएगी। जा, दुखी होने के तेरे दिन सदा के लिए चले गए।" इस बात का एहसास मुझे बाद में हुआ कि उस समय मेरी बाईं नाड़ी—इड़ा—चल रही थी और मेरी बाईं ओर ही बीबी भी बैठी थी।···

लो, बस खड़ी हो गई। मोदीनगर आ गया है। अब तो बस दिल्ली आई कि आई···

हां, तो मैं कह रहा था, जब मैंने उसके सिर पर हाथ रखा, तब इड़ा चल रही थी। तभी तो लगभग साल-भर बीतने के बाद एक दिन फिर बीबी दिखाई दी। आते ही मेरे पांवों में झुक गई और उसके इशारे पर उसकी दासी ने एक बच्चा मेरे पांवों में रख दिया। मैंने कहा, "हैं हैं, बीबी, क्या कर रही हो ! वाह-गुरू के इस मंदिर में यह क्या ?"

आन की आन में सारे गुरुद्वारे में यह खबर फैल गई। बीबी ने अरदास की थी और उसका मनोरथ सुफल हो गया है, सो गुरुद्वारे के सारे ग्रन्थियों और सेवा-दारों के लिए वह भेंट लाई है। एक दर्जन दासियां थाल और टोकरियां लिए धीरे-धीरे गुरुद्वारे के आंगन में इकट्ठी हो गईं। और फिर चारों तरफ चहल-पहल ऐसी थी जैसी पहले कभी न हुई थी।

बीबी ने एक थाल-भर चांदी के चमाचम रुपये ग्रंथ साहब की भेंट चढ़ाए ! इतने सारे रुपये एक साथ मैंने पहले कभी नहीं देखे थे। हर एक ग्रंथी के लिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

एक-एक पगड़ी थी, एक-एक रेशमी शाल था। हर एक सेवादार के लिए दस-दस गज़ बढ़िया लट्ठा था। और 'कढ़ा-परशाद'! मेवे से भरा, घी की सुगंध से सराबोर वह 'कढ़ा परशाद', वह हलवा मैं आज तक नहीं भूला। मैं ही क्या, उस गुरुद्वारे का कोई आदमी नहीं भूला।

तभी हेड ग्रंथी से मुझे बुलावा आया, और मैं उनके पास चला गया। वह अपने कमरे में चारपाई पर बैठे थे। मुझे अपने पास बिठाकर बोले, "तुमसे कुछ बात करनी है।"

"कहिए।"

"अभी-अभी जो बीबी भेंट लेकर आई है, उसके बारे में मैंने जो कुछ सुना है, क्या वह सच है?"

"जी।"

"तुमने कायदे के खिलाफ़ काम किया है। तुम्हें पता है, इसकी सज़ा क्या है?"

"मुझे खयाल नहीं रहा, ग्रंथीजी। बीबी के दुख से मैं इतना पसीज गया था, अगर आप भी सुनते तो शायद···"

"ठीक है, ठीक है। मगर तुम्हें पता होना चाहिए, कि अगर तुम्हारा आशीष किसी कारण से न फलता, तो गुरुद्वारे की कितनी बदनामी होती। इस किस्से को सुनकर कई यहां आएंगे। उन्हें पता होगा, कि यहां एक ग्रंथी है जिसकी ज़बान पर वाहगुरू बैठे हैं। उन्हें तुम कैसे इनकार करोगे? क्या कहकर टालोगे?"

हेड ग्रंथी चुप हो गए और मैं उनकी तरफ देखता रह गया। इस पक्ष पर मेरा ध्यान ही न गया था। मैंने तो सहज ही अपने अंतर की आवाज़ पर बीबी को आशीर्वाद दे डाला था। हेड ग्रंथी जी की बात में सचमुच बहुत सार था। मैंने हाथ जोड़ दिए। "मुझसे बहुत भूल हुई, ग्रंथीजी, मुझे माफ़ करें। आगे से ऐसी भूल नहीं होगी।"

"ठीक है, ठीक है!······अच्छा देखो, एक काम करो। इस भूल का प्रायश्चित्त कर डालो।"

"जो कहें, करने को तैयार हूं।"

"तुम जो ठीक समझो, वही करो। लेकिन प्रायश्चित्त कर डालो।"

मैं कमरे से निकलकर बाहर दालान में आया, तो एक सेवादार को पगड़ी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और लट्ठा ले जाते देखा। एकाएक मुझे प्रायश्चित्त का तरीका खयाल में आ गया। मैं गुरुग्रंथ साहब के पास चला गया और शीश नवाकर, अपनी हथेलियों से ग्रंथ साहब को छूकर मैंने अपनी आंखों को ढांप लिया। देर तक ध्यानमग्न मैं वैसा का वैसा खड़ा रहा।

"ग्रंथीजी !" चूड़ियों की खनक में मिली स्त्री-कंठ की कोमल, भक्ति-भरी आवाज़ ने मुझे फिर वापस धरती पर खींचकर ला खड़ा किया। मैंने आंखें खोलकर कहा, "हां, बीबी, कहो !"

"आपको मैं कितनी देर से ढूंढ रही हूं। आपके लिए छोटी-सी भेंट लाई हूं।"

बीबी के हाथ में एक थाल था। चांदी के थाल में पश्मीने का एक निहायत नफ़ीस शाल था, रेशम की गुलाबी पगड़ी थी, और बहुत-सी चीज़ें थीं और साथ ही एक बंद लिफ़ाफ़ा भी था।

बीबी ने झुककर वह थाल मेरे कदमों में रख दिया। हाथ जोड़कर उसने अपनी बड़ी-बड़ी आंखों से मेरी तरफ़ देखा। उसकी सारी खुशी भक्ति की बाढ़ में आंखों से छलक रही थी। "यह छोटी-सी भेंट है, ग्रंथीजी !"

"बेटी !" मैंने बीबी के सिर पर हाथ रखकर कहा। "बुरा न मानना, मगर मैं यह भेंट मंज़ूर न कर सकूंगा।"

बीबी ने मेरी तरफ़ देखा। मैंने कहा, "तुमने अपने मन की मुराद पाई है। जुग-जुग जियो, खुश रहो। मुझे भी खुश रखना चाहती हो, तो मेरे सामने से यह हटा लो।"

"मुझसे कुछ भूल हुई है, ग्रंथीजी ?"

"नहीं बेटी, नहीं। भूल नहीं हुई है···भूल नहीं हुई है, बेटी···" और मेरे अंतःकरण से बीबी के लिए ऐसी आशीष निकली जैसे शायद अपनी बेटी के लिए भी कम निकलती है।

मेरे मुख के भाव पढ़कर बीबी ने सिर नवा दिया। बोली, "आपका कहना मैं नहीं मोड़ सकती, इसलिए आपसे यह स्वीकारने के लिए नहीं कहूंगी। लेकिन मैं इसे वापस भी नहीं ले जाऊंगी। जैसा आप चाहें, इसका करें।"

बीबी इतना कहकर 'सत सिरी अकाल' कहकर चली गई। मैंने एक सेवादार के हाथ सारी भेंट की चीज़ें हेड ग्रंथीजी के पास पहुंचा दी। कहलवा दिया, "ये चीज़ें बीबी मुझे दे गई हैं, आप इनका जो चाहें करें। मेरा प्रायश्चित्त हो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गया।" बस, तभी से मैंने जंतरी देखना भी बंद कर दिया।

लो बाबूजी, बातें करते पता भी नहीं चला, वक्त कट गया। बस, अब दिल्ली आई कि आई। वह देखिए, जमना माई दिखाई देने लगी है। दिल्ली आ गई।

बेटे को मैंने लिखा था। वह बस-स्टेशन पर आया ही होगा। तीन बेटे हैं, मेरे—तीनों के तीनों बड़ा सनेह करते हैं···

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कमीन किरायेदार

२ सितम्बर, १९६०

बदजात किरायेदार ! स्साले !!

आज सुबह मैं सोकर उठा भी न था कि उम्मी बिटिया के रोने की आवाज़ आई। आंगन में बिछी खाट पर लेटे-लेटे ही करवट बदलकर मैंने पूछा, "कमले, उम्मी रो क्यों रही है ?"

मेरी पत्नी कमला रसोईघर में स्टोव जला रही थी। वहीं से बोली, "निगोड़े किरायेदारों से पिटकर आ रही है, रोए नहीं तो क्या करे ? सुबह-सुबह बच्ची को मार दिया।"

मैं उठकर बैठ गया। ऊषी अपनी छोटी बहन का हाथ पकड़े बाहर आ रही थी। मैंने पुचकारकर कहा, "बेटे उम्मी, आ, मेरे पास आ तो। क्या हुआ बेटा ? तुझे किसीने कुछ कहा ?"

उम्मी की प्यारी भूरी आंखें छलछला रही थीं। बहन का हाथ झटककर वह मेरी गोद में चढ़ बैठी। मैंने उसे बांहों में भरकर उसकी मिट्ठी ले ली। सबसे छोटी, सबसे सुंदर, सबसे गोरी-चिट्टी यह बेटी मेरी जान है।

"मैं ऊपर···गई थी···" हिचकियां लेते हुए उम्मी ने आरंभ किया।

"मैं बताऊं, पापा ?" ऊषी ने बीच ही में चमककर कहा। "उम्मी उनका खिलौना उठाकर नीचे ला रही थी, उन्होंने छीन लिया। बस, यह रो पड़ी। भागी-भागी नीचे आ गई।"

"चुप रह !" मैंने डांट दिया। "तुझसे किसने कहा बताने के लिए। उम्मी खुद ही बताएगी। हां बेटा, क्या हुआ ?"

"और पापा···मैं ऊपर गई थी···मैं खेल रही थी चुन्नू के खिलौनों से··· और पापा, चुन्नू की मां ने कहा, जा नीचे जा। सुबह-सुबह ऊपर आ जाती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ग्रौर पापा, उसने मुझे यहां मार दिया।"

"तू खिलौना फ्राक में छिपाकर नहीं ला रही थी ?" ऊषी बोली। "मैंने देखा था, पापा। मैंने खुद देखा था।"

"चुप रह बदज़ात !" मैंने डपटकर कहा। "यहां से जाती है या नहीं। ज़बान बहुत चलती है तेरी।"

ऊषी ग्रंदर भाग गई। मैंने उम्मी का गाल चूमकर कहा, "हम तुझे खिलौना ला देंगे, हां। तू रो मत।"

चाय की प्याली मेरे हाथ में पकड़ाते हुए कमला ने कहा, "यह तो सरासर ज़्यादती है जी। कोई बच्ची को ऐसे मारता है ? देखो तो, बिचारी रो-रोकर हलकान हो गई। खिलौने को हाथ लगा दिया तो कौन-सा घिस गया। ग्राखिर निगल तो नहीं रही थी।"

मैंने उसे शांत किया। "बात यह है, कमले, कि किरायेदारों के दिल भी छोटे होते हैं। हम जैसे खाते-पीतों की बात ग्रौर है। गुस्सा तो मुझे भी ग्राता है कि सालों को ग्रभी कान पकड़कर बाहर करूं। पहले पता होता कि इतने कमीने होंगे, तो मकान कभी न देता। पर ग्रब गलती हो गई, क्या किया जाए ? ऐसा करो कि बच्चों को ऊपर मत जाने दो। ऐसे हैं तो फिर क्या किया जाए ?"

कमला को तो मैंने शांत कर दिया, मगर ग्रपने-ग्रापको मैं समझा नहीं पाया। तभी तो यह सब डायरी में लिख रहा हूं। यहां दिल्ली में ग्राकर यह मकान खरीदे हमें ग्राठ-दस साल हो गए हैं, एक भी ग्रच्छा मनपसंद किरायेदार हमें नहीं मिला। शुरू-शुरू में तो हम यह समझकर संतोष कर लेते थे कि चलो, किसी तरह निबाह ही तो करना है। क्या हुग्रा ग्रगर मन नहीं मिलता—दो भाई भी एक तरह से नहीं सोचते, किरायेदार तो फिर भी किरायेदार ही हैं। मगर ग्रब···

१५ सितम्बर, १९६०

ये किरायेदार तो हद से गुज़रते जा रहे हैं। इनका कुछ करना पड़ेगा। इन्हें ग्राए ग्रभी चार महीने नहीं हुए ग्रौर ऐसा ब्योहार बरत रहे हैं कि एक दिन भी न चल सके। वह तो हम हैं जो निभाए चले जा रहे हैं।

ग्रभी दस दिन पहले बाबूजी किराया लेने गए थे। किराया तो उन्होंने दे दिया, मगर बाबूजी से बोले, "फ़्लश ठीक से काम नहीं करता। जब से ग्राए हैं,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

खराब ही चला आ रहा है। इसे बनवा दीजिए तो बड़ी मेहरबानी होगी।"

बाबूजी ने उनके गुस्से का जवाब हंसकर दिया। बोले, "पहले किरायेदार तो बाल्टी भरकर पानी फेंक देते थे। बनवाने की ज़रूरत ही नहीं पड़ी।"

किरायेदार महोदय ज़रा बिदके। फौरन बोले, "नहीं, आप यह तो बनवा ही दीजिए। हमें बहुत तकलीफ़ है। आखिर किराया आप पूरा लेते हैं, तो चीज़ें भी ठीक होनी चाहिए।"

बाबूजी ने नीचे आकर जब मुझे ये सब बातें बताईं, तो मैंने कह दिया, "आपने कह क्यों न दिया कि आप मकान खाली कर दें, पसंद नहीं है तो ?"

"कह तो देता, पर किराया भी हम इनसे दस रुपये ज़्यादा ही ले रहे हैं। रेट एक सौ पंद्रह का है, हम सवा सौ ले रहे हैं।"

"ठीक है," मैंने कहा। "मगर इसका यह मतलब तो नहीं कि आए दिन वे आपकी बेइज़्ज़ती करें, हमारे बच्चों को मारें।"

खैर, वह बात तो आई-गई हो गई, पर कल तो गज़ब ही हो गया।

मैं सुबह काम से बाहर गया था। रात गए थककर लौटा; खाना-वाना खाकर बरामदे में चारपाई पर लेट गया। बहन विमला आजकल अपने चारों बच्चों समेत हमारे पास आई हुई है, वह पिछले दालान में अपने बच्चों को सुला रही थी। एकांत पाकर कमला मेरे पास आ गई। धीरे से बोली, "मैंने कहा जी, इनके मारे तो मेरी नाक में दम आ गया।"

"किनकी बात कर रही हो ?"

"यही किरायेदारों की, और किनकी।"

"अब क्या हुआ ?"

"होना क्या था, सुबह मैं बच्चों को खाना खिलाने बिठा रही थी, कि ऊपर से पानी टपक पड़ा। ऊपर देखा, तो गीला कटका दीवार पर लटक रहा था। मैंने आवाज़ देकर कहा कि कटके को ऐसे नहीं लटकाना चाहिए, गंदा पानी टपककर हमारे खाने में गिर रहा है। बस, बरस पड़ीं महारानी, बोलीं—'उठाए लेती हैं, इतनी सारी बातें करने की क्या ज़रूरत है ? मेहतरानी ऐसे रख गई।' मैंने कहा, 'मेहतरानी से कहा नहीं जा सकता ?' बोलीं, 'कहा तो जा सकता है, अगर तुम लोगों की मुंहबोली न हो तो।' खैर, मैं चुप हो गई। आखिर तकरार से फायदा ?"

कुछ देर कमला चुप रही। फिर बोली, "दोपहर को ऊपर से धड़धड़ की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आवाज़ आई मानो भूचाल आ रहा हो। मैंने आवाज़ दी कि यह सब बंद करो। ऊपर से जवाब मिला, 'बच्चे खेल रहे हैं।' मैंने कह दिया, 'बच्चों का यह सब खेल हमें पसंद नहीं है। हमारा फ़र्श कमज़ोर होता है, बच्चों को मना कर दो।' मैं आंगन में खड़ी ये बातें कर रही थी। किरायेदारिन ने अब छज्जे पर से झांककर कहा, 'बच्चों का खेलना बंद नहीं होगा। रही आवाज की बात, तो रात को तुम्हारे बच्चे कम शोर नहीं करते, जब हम सो रहे होते हैं। हम कुछ नहीं बोलते, तो तुम भी चुप रहो। हमने मकान किराये पर लिया है, किसीकी धौंस नहीं है—यह समझ लो,' मेरे तो तन-बदन में आग लग गई, पर चुप लगा गई क्योंकि विमला आई हुई है। आप इनका कुछ बंदोबस्त कर दीजिए, मैं तो तंग आ गई हूं।"

"हूं···" मैंने कहा। "बाबूजी यहां होते तो उनसे सलाह ले लेता। खैर, तुम चिंता मत करो·· कल सुबह या शाम को कोशिश करूंगा, खुद बात करूं, शायद कुछ असर हो ही जाए।"

१५ अक्टूबर, १९६०

कई बार बात कर चुका हूं, मगर कोई असर नहीं हुआ। बच्चों के कूदने से छत कमज़ोर होती है, इतनी-सी बात भी ये लोग नहीं समझते। और तो और, इन्होंने ऊपर कोयला तोड़ना भी बंद नहीं किया। कहते हैं, हमारे हां भले घर की औरतें गली में बैठकर कोयला नहीं तोड़तीं।

मकान को ठीक रखना भी कितना कठिन काम है। किरायेदार तो समझते हैं, घर तोड़फोड़ डालें फिर भी मकान-मालिक कुछ न कहे—किराया जो देते हैं! मगर कीलें वे दीवार में ठोकते हैं, गड़ती हैं मकान-मालिक के दिल में!

ठीक भी तो है। कितनी कठिनाई से हमारा यह घर बना है, यह हमीं जानते हैं। खून-पसीना एक किया है इसके लिए।

पाकिस्तान से हम लुटे-पिटे आए थे—सब कुछ गंवाकर, सब कुछ स्वाहा करके। होम करते हाथ जले, आज़ादी के दिये जले तो साथ ही हमारा घर-बार भी उजड़ गया। लाखों-करोड़ों शरणार्थियों के साथ हम भी बेघर-बार होकर, अपने कंधों पर कुछ सामान उठाए, कभी पैदल और कभी गाड़ी के डिब्बों में ठूंसकर दिल्ली पहुंच गए। काफ़ी देर शरणार्थी कैम्पों में रह, कई महीने काम

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

की तलाश में फिरे। बाबूजी के बाल चार ही महीनों के कष्ट में सफेद हो गए; कभी-कभी वह बैठे-बैठे बड़बड़ाने भी लगे। पहली बार यह देखकर मैं घबरा गया था। कई दिन रात को नींद नहीं आई थी। फिर मां ने पड़ोसियों से सलाह ली, बादाम पीसकर दूध में औटाए और बाबूजी को पिलाए। कई दिन तक बाबूजी को यह खुराक दी तब कहीं जाकर वह कुछ संभले और मां ने चैन की सांस ली। बेचारी मां! बाबूजी तो भले-चंगे हैं, मगर मां तीन साल हुए गुज़र गईं, भगवान उनकी आत्मा को शांति दे।

मगर उन दिनों घर में तीन-तीन बहनें कुंवारी बैठी थीं और फिर मैं भी बेकार था। मैट्रिक में पढ़ रहा था जब यह सब बावेला हुआ। सो यहां आकर गुज़ारा बड़ी मुश्किल से चल रहा था। वह तो कुछ सोना उठाकर बाबूजी ने अपनी कमर के गिर्द बांध लिया था—और कुछ ज़ेवर मां ने कपड़ों के नीचे छुपा रखा था, डेढ़-एक हज़ार के नोट भी साथ ले आए थे, उन्हींके बल पर खर्च चल रहा था। यह अलग बात है कि इस सोने व पैसे का बहुत कम हिस्सा हमें खर्चना पड़ा—बाकी सब मांग-तांगकर निबाह कर लिया।

शरणार्थियों को मकान मिलने लगे, तो मैंने बाबूजी को चेत दिया। कभी किसी मजिस्ट्रेट के पास ले जाता, कभी किसी मिनिस्टर के प्राइवेट सेक्रेटरी के पास, कभी किसी दोस्त के जान-पहचान वाले सरकारी अफ़सर के पास।

पाकिस्तान में हम किराये के मकान में रहते थे। वज़ीराबाद में एक चिरंजीतलाल थे, बड़े ही नेक और खुदापरस्त। दंगों में वह मारे गए। हमें पता था कि उनका कोई दूर का भी वली-वारिस नहीं है। सो हमने एक कागज़ तैयार करवा लिया जिससे साबित हो जाए कि वह मकान हमने उनकी मौत से पहले ही उनसे खरीद लिया था। मुसीबत में इंसान इंसान की मदद करता है, आखिर भगवान की महिमा है। सो हमें भी मदद मिली। कुछ रुपये-पैसे खर्च ज़रूर हुए, काफ़ी धक्के भी खाए, मगर आखिर हमारा क्लेम बहाल हो गया और कुछ दिन बाद इस मकान में आकर हम रहने लगे।

उन दिनों यह जगह बिलकुल सुनसान थी—पथरीली और बेरहम और उजाड़-बियाबान। सरकार ने पहाड़ियां उड़ा-उड़ाकर ज़मीन हमवार करवाई थी और उसपर कुछ मकान बनवा दिए थे। दो कमरे नीचे, दो कमरे ऊपर। शरणार्थी कैम्पों की गंदगी और गलाज़त के बाद, वहां की मुफ़्त दाल और सूखी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

रोटी के बाद अपने घर में आकर हमने चैन की सांस ली—हालांकि यहां न पानी था, न बिजली, न ढंग की सड़कें थीं, न दुकानें। यहां आकर अपना बनाकर खाना पड़ा, अपना खरीदकर ओढ़ना पड़ा—मगर खुदपरस्ती भी तो कोई चीज़ है—हम पंजाबियों को उसपर नाज़ है। और यह नाज़ बेजा नहीं है !

खैर ! पहला किरायेदार हमें यहां आने के दो साल बाद मिला। कितने चाव से हमने उसे अपनाया, कितनी आवभगत से हमने उसे रखा, यह हमीं जानते हैं। उसे किसी दरवाज़े पर एक कुंडे की ज़रूरत हुई, तो कहने की देर हुई नहीं कि लग भी गया। आदमी कभी काम पर शहर से बाहर दौरे पर गया, तो बाबूजी कई बार ऊपर जाकर खुद पूछ आए कि किसी चीज़ की ज़रूरत तो नहीं है ? मगर कमला के ब्याहकर आने की देर हुई नहीं और सारी बातें उलटने लगीं। न जाने क्यों किरायेदारों को मेरी बीवी से चिढ़ हो जाती है। अच्छा खाती-पीती है, पहनती-ओढ़ती है। आखिर उसकी उम्र भी तो यही है, फिर कब खाए-पहनेगी ? बेशक कमला का सुभाव ज़रा तीखा है, पर किरायेदारों को भी चाहिए कि ज़रा चुप ही रह जाएं। वही किरायेदार जो हमने सिर पर उठाकर रखे थे, कमला को जली-कटी सुनाने लगे और गए तो पड़ोस में यह कहते गए कि परिवार तो बुरा नहीं, मगर बहू जाने कैसी ले आए हैं जिसे बात करने की भी तमीज़ नहीं।

फिर तो हमें भी अक्ल आ गई। हमने अपना रवैया बदलना शुरू किया। सफ़ेदी हर साल की बजाय हम दो साल में एक बार ही करवाने लगे और वह भी दीवाली के बाद ताकि खर्च कम आए। कोई टूट-फूट होती तो देख-सुनकर भी न देखते-सुनते। और अब तो हमें यह भी परवाह नहीं रहती कि पानी ऊपर वालों को मिलता है या नहीं ? ज़रूरत भी क्या है; पानी के बिल का आधा तो उन्हें देना ही पड़ता है। बहुत तंगी हो तो सुबह-सवेरे उठकर डोल और टब भर लें। और क्या ?

वैसे किराया हम पहली या दूसरी तारीख तक पेशगी ले लेते हैं। इसमें शर्म या लिहाज की गुंजाइश देना न हमारे बस की बात है और न कोई ऐसा कर सकता है।

इन नये किरायेदारों से छुटकारा पाना पड़ेगा, और बहुत जल्दी ही। मैं सालों को देख रहा हूं। किसी दिन पकड़ में आ गए तो वह मरोड़ दूंगा, वह मरोड़ दूंगा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कि भागते ही बनेगा ।

१४ नवंबर, १६६०

बहुत दिन बाद आज मैं डायरी लिखने बैठा हूं । बस, कुछ समय ही नहीं मिला । कुछ चिंता थी, कुछ भाग-दौड़ थी । अब सब कुछ ज़रा ठीक से बैठ रहा है, तो सोचता हूं कि पिछली कमी की खानापूरी कर ही दूं ।

आखिर उन किरायेदारों को भगाने का मौका मुझे मिल ही गया । तीस अक्तूबर की बात है । रात के साढ़े आठ-नौ बजे होंगे । किरायेदार बाहर से लौट-कर आए—बड़ी शान के साथ टैक्सी में बैठकर । मैं अन्दर कमरे में बैठा अख-बार पढ़ रहा था । कमला रसोई में थी । किरायेदारों ने गेट खोला और अपने दरवाज़े का ताला खोलकर बच्चों समेत ऊपर चढ़ गए ।

कमला मेरे पास से गुज़रकर खिड़की में से आंगन में झांक गई । फिर अंदर के आंगन से उसने किरायेदारों को आवाज़ दी, "बिल्लू ! ओ बिल्लू !"

"क्या बात है ?" किरायेदारों के बड़े बच्चे ने छज्जे पर से झांककर कहा ।

"अपनी मां से कह दे, उसके बाप का घर है जो बाहर का गेट खुला छोड़-कर खटखट ऊपर चढ़ जाते हैं ?"

ऊपर से कोई जवाब नहीं आया । कुछ मिनट बाद किरायेदार सीढ़ियां उतर-कर गेट से बाहर चला गया । गेट अब भी खुला ही पड़ा रहा ।

कमला भुनभुनाती हुई मेरे पास आ खड़ी हुई और ताला-चाबी मेरे सामने मेज़ पर पटककर बोली, "मैंने कहा जी, गेट में ताला डाल दो । कोई बात भी है ? आए और नवाबों की तरह ऊपर चढ़ गए । उतरे और चलते बने ।"

मैं ताव खाए बैठा ही था । कमरे का दरवाज़ा खोलकर, सुनसान खुले आंगन से गुज़रकर मैंने गेट बन्द किया और कुंडे में ताला लगाकर लौट आया । बाहर के आंगन की बत्ती बन्द की और अन्दर के कमरे में आकर हम दोनों बैठ गए । बच्चे उस दिन अपने मामा के घर गए हुए थे, सो उनके ऊधम मचाने की बात ही नहीं थी । चारों ओर खामोशी थी, यह और बात है कि मेरे दिल में क्रोध कचोटें ले रहा था और कमला का मुंह तमतमा आया था ।

बहुत देर की प्रतीक्षा के बाद बाहर खटका हुआ । हमारे कान चौकन्ने हो गए ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"लालाजी ! ओ लालाजी, दरवाज़ा खोलो ।" पांच मिनट तक के लिए मैंने कान लपेट लिए, सुनकर भी अनसुनी कर दी । बाहर गेट पर धक्के पड़ते रहे, आवाज़ें तैरकर बाहर से अन्दर आती रहीं । हमारे अन्दर के कमरे में टाइमपीस घड़ी की टिकटिक तीव्र से तीव्रतर होती गई ।

खड़ाक ! इस बार बहुत जोर से गेट पर धक्के की आवाज़ हुई और मैं उठ खड़ा हुआ । "आज मैं सालों को मज़ा चखाता हूं," मैंने कहा और बाहर निकल गया ।

"क्यों भई, आपकी यह क्या हरकत है ! जब देखें, गेट खुला छोड़ जाते हैं ।" मैंने अपने क्रोध पर काबू रखते हुए पूछा ।

गेट के पार किरायेदार महोदय हाथों में डबलरोटी और मक्खन लिए साफ़-सुथरे कपड़े डाटे खड़े थे । बोले, "कोई ऐसी बात नहीं है, साहब । कभी जल्दी में गेट खुला रह भी गया, तो आपका क्या हर्ज हो जाता है, यह समझ में नहीं आता । आपके आंगन में कोई सामान नहीं धरा रहता, जिसके चोरी जाने का खतरा हो । खैर, छोड़िए इन बातों को···अब आप यह ताला खोल दीजिए ताकि मैं ऊपर जाकर आराम कर सकूं ।"

"ताला नहीं खुलेगा ।" मैंने निर्णय देते हुए कहा । मुझे गुस्सा आ रहा था । यह पतला कमज़ोर-सा किरायेदार कानून कैसे बघार रहा है ? जानता नहीं, एक झापड़ दूंगा तो सारी बोलती बन्द हो जाएगी ?

"ताला तो आपको खोलना ही पड़ेगा," उसने सख्त स्वर में कहा । "हमारा रास्ता बन्द करने का आपको कोई अधिकार नहीं है ।"

"खोलना पड़ेगा का बच्चा !" मैंने दांत पीसकर कहा । "बात कैसे करता है ?"

ऊपर छज्जे पर से किरायेदारिन बोली, "आप पिछली सर्विस लेन से आ जाइए, जी । झगड़े को छोड़िए ।"

मगर किरायेदार डटा रहा, बोला, "नौ भी अभी नहीं बजे । हम चाहें तो बारह बजे आएं, रात के दो बजे आएं । इनका कोई हक नहीं कि हमारा रास्ता बन्द करें ।"

"तो बताऊं तुझे ! हक के बच्चे !" मैंने कहा । "आज तेरी सारी शान झाड़े देता हूं···" मैंने ताला खोलकर गेट खोल दिया, मगर तब भी किरायेदार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

साला वहीं खड़ा रहा ।

....

दो मिनट में सब कुछ निबट गया। कमला मेरा हाथ पकड़कर मुझे खींच ले गई, वर्ना मैं उसका खून पीकर ही दम लेता । हम 'पिशोर' (पेशावर) के आदमी भला क्या खाकर ये हमारे सामने बोलेंगे ?

पूरा घंटा-भर किरायेदारिन बकती-झकती रही, पर हमने कान लपेट लिए जैसे कोई आवाज़ ही न आ रही हो । बोलकर थक गई, तो आप ही आप चुप हो गई । बड़े इत्मीनान की नींद आई उस रात !

तीन-चार दिन शांति रही । पांचवें दिन ठेलागाड़ी आ खड़ी हुई और ऊपर से सामान नीचे जाने लगा । किरायेदार जा रहे थे । एक बार मन में तो आई कि सामान रोक लूं । कहूं, 'पहले एक महीने के नोटिस का किराया दो, फिर जाओ ।' मगर फिर मैंने चुप रहना ही बेहतर समझा । भयानक शकलवाले दो आदमी खुला पायजामा और कुर्ता पहने, बांहें ऊपर चढ़ाए, सिगरेट के कश खींचते, ठेले के पास खड़े थे । रात की वारदात तो किसीने देखी नहीं थी, दिन में पड़ोसियों के बीच नये सिरे से अपनी छीछालेदर कराने से क्या लाभ ?

रात को छः बजे तक सामान जाता रहा । कितना सामान था ! किराये के मकानों में रहते हैं और सामान कोठीवालों जैसा रखते हैं । मैंने कमला से टार्च मंगाई और ऊपर चला गया । जो कुछ देखा, उससे मेरा दिमाग फिर गर्म हो उठा । घर में चारों तरफ़ फटे काग़ज, खाली डिब्बे, और धूल के अम्बार थे । और··· और बिजली का एक होल्डर नीचे लटक रहा था । कुत्ते के पिल्ले ! साले ! इनसे न सिर्फ एक महीने का किराया वसूल करूंगा, बल्कि टूट-फूट का हर्जाना भी इन्हें देना पड़ेगा । खिड़की का एक शीशा भी वे तोड़ गए थे ।

शायद, मगर मुझे याद नहीं रहा, शायद होल्डर पहले भी ऐसे ही लटका हुआ था । शीशा तो मुझे याद आ गया, यकीनन एक वर्ष पहले टूटा था । मगर किरायेदारों ने न हमें घर का चार्ज दिया था, और न एक महीने का नोटिस— सो इन सभी चीज़ों के पैसे भी उन्हींसे लेने होंगे ।

मगर मुश्किल सिर्फ एक है। किरायेदारों के साथ झगड़े में अदालत भी ज्यादातर मकान-मालिकों के विरुद्ध फैसला देती है ।

खैर, फिर भी देख लूंगा । मैं भी 'पिशोर' का हूं, दिल्ली का नहीं हूं जो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

चुपचाप ऐसा अन्याय सह लूं।

१० जनवरी, १९६१

उस हरामी के पिल्ले को कई नोटिस दे चुका हूं, कोई असर नहीं हुआ। पैसे नहीं दिए उसने—न नोटिस के, न किराये के, न टूटफूट के। और तो और, बिजली के बिल के जो पांच रुपये उसके ज़िम्मे निकलते थे, वह भी नहीं दिए। कई बार सोचा है, किसी वकील से नोटिस दिलाऊं। जवाब देने के लिए उसका कुछ तो खर्च होगा, और मुमकिन है डर जाए और पैसे भेज दे। पर वकील को मुझे भी तो सौ-पचास पूजने होंगे। बस, यही सोचकर रह जाता हूं कि पैसे पता नहीं मिलें या न मिलें और ऊपर से और खर्च कर दूं। मुझे कौन अक्लमंद कहेगा ?

उस रात मैंने शायद अच्छा नहीं किया जो हाथ छोड़ बैठा। न मारता, न पुलिस में रिपोर्ट होती, और न नोटिस दिए बगैर वे जाते।

मगर फिर सोचता हूं, सीधी तरह शायद वे जाते ही नहीं। इधर-उधर पड़ोसियों को मैंने कह रक्खा है कि उसने ही पहले हाथ उठाया था—मैं कैसे बरदाश्त कर लेता ? अधिकतर लोगों की सहानुभूति हमने बटोर ही ली है। यह बात और है कि पिछवाड़े के घरवालों ने कमला से एक दिन कह दिया, "किसी तगड़े को मारकर देखते—छठी का दूध याद आ जाता ! कमज़ोर को मारना भी कोई बहादुरी का काम है ?" पिछवाड़े के घरवाले तो सदा से हमारे खिलाफ रहे हैं, इसीलिए ऐसी बात कहते हैं।

ख़ैर···अब हमने अपना ऊपरवाला घर एक सौ पैंतीस पर उठा दिया है। अभी तक तो ठीक ही आदमी लगते हैं। चंद्रा, ऊषी वा उम्मी, सभी के साथ प्यार से बोलते हैं—अकसर बिस्कुट लेकर वे ऊपर से लौटती हैं। तीन-चार बार सब्ज़ी का कटोरा भी नीचे भेज चुके हैं। दो जीव हैं, बस, मियां और बीवी। सामान भी इनके पास बहुत कम है—तीन-चार कुर्सियां, दो चारपाइयां और दो ट्रंक। गरीब और भले आदमी लगते हैं। कहावत है न, सभी उंगलियां बराबर नहीं होतीं। सो ये किरायेदार शायद उतने कमीन नहीं हैं। 'शायद' इसलिए कि क्या जाने कल क्या हो जाए ? होनी को भी कोई जान सकता है ?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नये चावलों की आढ़त

रामगढ़ की मंडी में रात कभी की झुक आई है। अंधेरी रात में म्यूनिसिपैलिटी के चार लैम्प मंडी की सड़क के चार छोरों पर मद्धिम रोशनी देते टिमटिमा रहे हैं। मंडी की सभी आढ़तें बन्द हैं—टीन की चादरें, लकड़ी के तख्ते, सरकंडों की चटाइयां, हाथ गाड़ियों के उलटे नंगे पहिये और बांस आढ़तों के दरवाजों को ढंके हुए हैं।

रामगढ़ की मंडी में एक आवारा कुत्ता भूंक उटता है और महेश जी की आढ़त के पास बोरों को सूंघकर आगे बढ़ जाता है।

रामगढ़ की मंडी एक छोटी-सी सड़क के दोनों ओर बनी आढ़तों की मंडी है। बीस-बाईस दुकानें एक तरफ़, पन्द्रह-बीस दुकानें दूसरी तरफ़ और इनके बीच की खुली जगह दिन में भीड़ से खचाखच, सुबह-शाम को बैल-गाड़ियों और लारियों से शोभित, और रात को किसी आवारा कुत्ते का टहल-बगीचा।

बाईं तरफ आखिरी कोने में एक आढ़त है। नाम है—'नये चावलों की आढ़त'। यहां आकर आवारा कुत्ता रुक जाता है। 'नये चावलों की आढ़त' के तख्ते पूरी तरह से बन्द नहीं हैं। उनकी झिरियों से क्षीण-सा प्रकाश आ रहा है। कुत्ते की नाक ऊपर उठती है, उसकी पूंछ हिलती है, फिर वह पंजे झाड़ता है · · फिर · · ·

× × ×

'नये चावलों की आढ़त' में सभी कुछ पुराना है। बस, आढ़त के बाहर, बन्द तख्तों के ऊपर जो बोर्ड लटका है, वह नया है। नये रंग हैं, हरे-लाल-पीले-नीले, और खूब बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ है। दिल्ली के बड़े शहर से बनकर आया है, इलाहाबादी पेंटर का बनाया हुआ। वरना, यह आढ़त किसी काने-मोटे दुकानदार से इन नये मालिकों ने चार बरस पहले खरीदी थी; उसके पास

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वह आढ़त बीस-पच्चीस बरस से थी। उम्र बड़ी हो जाने के कारण वह उसे बेच देना चाहता था। उसका सुनना बन्द हो रहा था, इसलिए। कोई बच्चा-बच्चा भी नहीं था उसका। आखिर बेचता नहीं तो क्या करता ?

दुकान के अन्दर तेल की ढिबरी उलटे तसले पर रखी भकभका रही है। तीन तरफ़ बोरे ही बोरे दीवारों से सटे पड़े हैं—पुराने धूल-भरे बोरे, जिनमें कहीं-कहीं थेगली लगी है। ढिबरी के प्रकाश में बोरे भी भकभका रहे हैं और तीन चेहरे भी, जो उसके इर्द-गिर्द जुड़े बैठे हैं।

"तो फिर तुम क्या कहते हो ?" राजेश ने बाकी दोनों चेहरों की तरफ़ बारी-बारी से देखा और मोटे कांच की ऐनक के शीशों के पीछे उसकी आंखें मिच-मिचा आईं। "मुझे तो लगता है, हमें दूकान बढ़ाने की बात पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। तालों की चाबियां तो ठीक हैं ना ?"

"तुम तो बेसिर-पैर की बात करते हो।" रामेश्वर ने अपनी जवाहरकट वास्कट पर दोनों हथेलियां फेरते हुए कहा। "अमां यार, अपना सब कुछ इसी आढ़त में लगा है। बढ़ाने से बात बढ़ेगी—हालत और पतली हो जाएगी।"

माधव ने अपनी छड़ी की मूठ दो बार अपने घुटने पर ठोंकी, फिर तीसरी वार लकड़ी के तख्तों वाले फ़र्श पर दे मारी। कहीं पास ही बिल्ली का बच्चा चिचिया पड़ा। रामेश्वर की तरफ़ घूमकर माधव बोला, "तो फिर साले तुम क्या चाहते हो ? इसी आढ़त में अपनी कब्र खोद लें और आराम से पड़ रहें ?"

"देखो, सुनो, मुझे एक ख़्याल आया है।" राजेश की आंखें बेअख्तियार मिच-मिचा आईं।

"हां, अब बात बनी।" रामेश्वर ने दाद दी।

"अबे साले, चुप भी रहेगा कि नहीं। उसे बात तो करने दे।" माधव ने रामेश्वर के कंधे पर छड़ी दे मारी।

"ले, नहीं बोलता, पर अब बात बन गई समझो। देखो, आंखें कैसे मिच-मिचा रही हैं।" रामेश्वर ने कहा। "हां, तो यार राजेश, कहो क्या कहते हो ?"

राजेश की आंखों का मिचमिचाना एकाएक बंद हो गया था और वह गंभीरता से एकटक माधव की ओर देखे जा रहा था। बस, देखे जा रहा था।

"देखो, सुनो, मुझे एक ख़्याल आया है। हमारे चावल पुराने पड़ गए हैं, पुराने बोरों में बंद हैं। जब हम उन्हें लाए थे, तब वे जरूर नये थे, अब नये नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

रहे। अब वे पुराने हैं और हमारी दूकान का नाम नये चावलों की आढ़त है। सो, सबसे पहला काम हमारा यह होना चाहिए कि सारे माल को नये सिरे से नये बोरों में भरा जाए।"

"मैं भी यही कह रहा था।" रामेश्वर ने कहा। "आज के युग में बोरों का महत्त्व अधिक और चावलों का महत्त्व कम है। ग्राहक बोरे देखता है, चावल नहीं देखता।"

राजेश की आंखें मोटे कांच में अब भी स्थिर रहीं। वह बोला, "दूसरी बात जो ध्यान देने लायक है, वह यह कि हमें पुराने विचार बदलने होंगे। अपने विचार नहीं, दूसरों के विचार—ग्राहकों के विचार। सदियों से यह विचार दोहराया जा रहा है कि पुराने चावल ज़्यादा अच्छे होते हैं, पुराने चावल सेहतमंद होते हैं, पुराने चावलों की खिचड़ी फलां-फलां रोगों में मुफ़ीद है। अब हमें नये चावलों की महिमा का प्रचार करना होगा।"

माधव ने कहा, "इतना सब कुछ करने की क्या ज़रूरत है ? चुपचाप बोर्ड बदल दो और चावल बेचो। साली बेकार की ज़हमत मोल ले रखी है।"

"और जो सोलह रुपये पौने ग्यारह आने बोर्ड पर खर्च हुए हैं सो ?" रामेश्वर ने चिढ़कर सवाल किया।

राजेश की आखें एकटक माधव के चेहरे पर लगी रहीं। वह बोला, "तीसरी बात यह कि हमें कुछ दलाल चाहिए जो हमारे चावलों का गुणगान करें, दूकानदारों के पास जाकर उन्हें राज़ी करें कि नये चावलों की आढ़त के चावल ही बेचें। इसके लिए उन्हें पुराने चावलों के नुक्सान समझने और समझाने पड़ेंगे, नई निगाहों के सवाल उनके सामने रखने पड़ेंगे।"

माधव ने कहा, "स्साले ! यह सब कहां से सीख आया है ? चार बरस पहले यह सब किया होता, तो अब तक कुछ बन गया होता। मगर अब—भाई, हममें दम नहीं रहा ! हां !!"

"बस, चीं बोल गए ?" रामेश्वर ने सवाल किया। "व्यापार में, अमां यार, कलेजा चाहिए।"

राजेश ने अपनी ऐनक उतार ली और उसे धोती से साफ़ करने लगा। "मैं यह सब कुछ ऐसे ही नहीं कह रहा हूं। मैंने पूछ-ताछ की है, शहर में जाकर कपड़े के दलालों से घंटों सिर खपाया है, साबुन वालों के पांव दबाए हैं। जब तुम यहां

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

चावल की पेढ़ी पर बैठे ठर्रा पी रहे होते थे, मैं…"

"तुम कोठेवालियों के पास अंग्रेज़ी शराब की मेहनत कर रहे थे—क्यों ?" माधव ने कहा।

"कमीने हो, साले !" राजेश ने तैश में आकर कहा।

"अच्छा यार, लड़ाई-झगड़ा बाद में कर लेना। पहले काम की बात करो।" रामेश्वर ने कहा। "तो कहो, अब आगे क्या करना है ?"

राजेश ने ऐनक अपनी नाक पर रख ली और आंखें मिचमिचाकर फिर एक-टक बोरी में लगी थेगली को देखने लगा जो माधव के ऐन सिर के ऊपर थी। ऐनक के मोटे शीशे ढिबरी के मद्धम प्रकाश में टूटते नज़र आ रहे थे। बोला, "शहर में एक मास्टर है। बहुत लम्बा कुरता पहनता है, बहुत लम्बे बाल रखता है। उसने किताबें भी पढ़ रखी हैं—अंग्रेज़ी की किताबें। ये बड़ी-बड़ी ! उससे बात की थी। उसने सुझाया कि वह यहां के 'सुदेश समाचार' में लेख लिखेगा। कुछ चावल की जानकारी उसे हम देंगे, कुछ वह किताबों में से जुटा लेगा। मगर हां, हमें उसे कमीशन देना पड़ेगा—सो मैंने सोच लिया है, हम दे देंगे। ज़्यादा नहीं लेगा, घबराओ नहीं। इस इतवार को वह यहां आएगा, तो मैं तुम लोगों को भी मिलाऊंगा, तभी पूरा प्रोग्राम तय हो जाएगा। मेरे ख़याल में बड़े काम का आदमी है यह मास्टर बाबू।"

"फिर तो यार, तुम्हें कॉफी पिलानी ही पड़ेगी। बनाऊं कॉफी ?" माधव के स्वर में अब मिठास ही मिठास घुल रही थी।

राजेश की आंखें एकाएक खुल आईं—पूरी तरह से—और वह मुस्करा दिया। "साला, हमेशा कॉफी की ही बात करेगा। अरे, कभी-कभार तो कुछ और अच्छी चीज़ की भी बात किया कर। तुमसे तो यह कायस्थ ही भला है।"

रामेश्वर अपनी तारीफ पर मुस्कराया। वास्कट पर हाथ फेरकर बोला—"अमां यार, फिर कुछ हो जाए ?"

माधव का चेहरा फिर कठोर हो आया। "तब तो, भाई, हम चले।"

"अबे बैठ बे !" राजेश ने कहा। उसकी मिचमिचाती आंखें उल्लास से भर रही थीं। "मारूंगा साले—चलने लगा है, जैसे तेरी सुसराल हो। पीने की बात हुई नहीं, कि छड़ी फटकने लगा।"

रामेश्वर उठकर खड़ा हो गया। उसका नाटा साया ढिबरी के प्रकाश में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दैत्याकार लग रहा था। "मैं अभी आया।" उसने व्यस्तता जतलाते हुए कहा। उसका अन्तर कृतज्ञता से भर रहा था और वह तुरंत प्रतिकार कर देना चाहता था।

राजेश रामेश्वर को बोरों के पीछे गायब होते देखता रहा। फिर मुड़कर उसने माधव की ओर देखा। उसकी आंखें मोटे शीशों के पीछे पूरी खुली थीं। "मैं तंग आ गया हूं इस ज़लालत से। रोज़-रोज़ बस दुबके रहना और एक आध ग्राहक-मुर्गा झटक लेना, यह भी कोई ज़िन्दगी है। अरे, ज़रूरत है मुर्गियों की—दर्जनों मुर्गियों की रोज़ाना ...।"

माधव की खीज फिर उभर आई। "हां हां, तीन मुर्गियां हमारी भाभियों के लिए चाहिए और तीन हमारे लिए।"

राजेश का गोरा चेहरा तमतमा आया। "बस, तो तू उतर आया न अपने कमीनेपन पर? तू यार जलता है मुझसे। न हो, तू हमारी चार भाभियां ले आ, मुझे एतराज़ हो तो कहना।"

माधव ने मुट्ठी बांधकर हवा में उठाई और फिर अपनी जांघ पर दे मारी। उसने मुट्ठी फिर उठाई—वह समझ न पा रहा था कि जब रामेश्वर बोतलें लेकर लौटेगा, तो वह कैसे अपना पिंड छुड़ाएगा। उसे सख्त कोफ्त हो रही थी और बैठना मुश्किल हो रहा था।

× × ×

शामियाने के नीचे दरियां बिछी थीं, चादरें बिछी थीं, गाव-तकिये लगे थे। शामियाने के बाहर, भीतर आने के रास्ते के बगल में ढेर सारे जूते, चप्पलें, पठानी चप्पलें और कपड़े के जूते पड़े थे। बिछी चादरों पर, कुर्ता-पायजामा, शेरवानी और पतलून, बुशर्ट पहने तीस-एक लोग बैठे थे। उनमें से कई पंखे से हवा कर रहे थे, कई अखबार तहाकर उससे गर्मी भगा रहे थे, कई धोती के छोर से मुंह-हाथ का पसीना पोंछ रहे थे।

शामियाने के नीचे एक तरफ़ ज़मीन पर एक भारी गद्दा बिछा था। उस-पर छोटी-सी चौकी रखी थी। उस चौकी के पीछे एक सज्जन बैठे एक सफेद बुर्राक रूमाल से अपना पसीना पोंछ रहे थे।

पान से रंगे पतले होंठों पर जीभ फेरकर इन महानुभाव ने कुर्ते से अपना हाथ निकाला, जैसे जादूगर टोपी में से चूहा निकालता है, और चौकी पर पड़ी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

घंटी बजा दी। नक्कारखाने में तूती की आवाज़। घंटी फिर टनटनाई; प्रभाव फिर नदारद! आखिर पास बैठा राजेश उठ खड़ा हुआ।

"सज्जनो! सज्जनो!!" उसने अपने मोटे कांच के बीच से मोटी छायाओं को संबोधन करते हुए कहा। मोटे भारी हाथ ताली बजाने के लिए दो बार आपस में टकरा गए।

नक्कारखाने का शोर भाटे की तरह पीछे हटता गया और फिर शामियाने के नीचे कुछ शांति विराज गई।

लम्बे बाल माथे पर आ झुके थे, उन्हें पतली उंगलियों ने पीछे सरका दिया। पान से रंगे होंठ फिर हिले और इस बार आवाज़ पतली मगर स्पष्ट सुनाई दी।

"दोस्तो! यह बड़े हर्ष का विषय है कि आज हम रामगढ़ की इस ऐतिहासिक महत्त्व की मंडी में इकट्ठे हुए हैं। जैसा आप ज़ानते हैं, चावलों का व्यापार एक पुरातन व्यापार है। बहुत पुरानी बात है, जब आदमी गुफाओं में वास करता था, और शिकार की खोज में पत्थरों के हथियारों से लैस होकर बाहर निकलता था। ऐसी ही एक खोज में उसे धान के पौधे दिखाई दिए जो आप ही आप जंगल में उग आए थे। चावल के दाने चबाकर उसने कुछ सोचा। मांस को आग पर भूनकर खाने से कच्चे मांस से ज्यादा मज़ा आता है। चावल भूनकर अथवा पकाकर खाने से कुछ और ही मज़ा उसे मिला। और चावल इकट्ठे करने के काम पर उसने अपनी स्त्रियों को लगा दिया।

"और फिर अकस्मात् चावल के दानों के गीली ज़मीन पर बिखर जाने से चावल के पौधे निकल आए—और तब इंसान को पता चला कि चावल से चावल की उपज जहां चाहें वहां की जा सकती है।

"चावल एक प्राचीन अनाज है जिसे यूरोप ने 'ओरीज़ा सटीवा' का नाम दिया है। ईसा से २,८०० वर्ष पूर्व चीन के बादशाह ने अपने देश में हुक्म जारी किया था कि चावल को रस्म के साथ रोपना चाहिए। मगर इससे भी २०० वर्ष पूर्व यानी ईसा से ३,००० वर्ष पूर्व, हमारे देश भारत में चावल मौजूद था, इसका प्रमाण कई विद्वानों ने खोज निकाला है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि चावल की उत्पत्ति सबसे पहले भारत में हुई थी।

"भारत में पैदा होकर, चावल आज अंतर्राष्ट्रीय अनाज कहलाने का हकदार है, यह कम गौरव की बात नहीं है। मगर आज के मशीनी युग में जब हवाई

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जहाज़ और राकेट ने हमारा सारा जीवन बदल दिया है, जब चावल अमरीका और यूरोप और सारे एशिया में उगाया जाता है—तब एक और गौरव की बात आज हमारे सामने है ।

" पुराने चावलों की महत्ता हमारे आयुर्वेद में है । उससे कई रोग जड़ से नष्ट होते हैं । मगर नये युग में नये चावलों का भी कम महत्त्व नहीं है । नये युगबोध और नई चेतना के साथ चावलों की किस्मों ने भी पलटा खाया है ।

" मैं जानता हूं, नये चावलों का विरोध बहुत तीव्रता से होने वाला है । मगर मैं एक प्रश्न आपके सम्मुख रखना चाहता हूं । क्या पुराने चावलों के बेचने वाले इन नये चावलों का आना रोक सकते हैं ? "

"नहीं ! हरगिज़ नहीं ! !" श्रोताओं ने एक साथ आवाज़ बुलन्द की ।

"नये युग की मांग नये चावल हैं," वक्ता ने अपनी चुंधी आंखों को विस्फारित करते हुए कहा और चौकी पर पड़ा उनका हाथ मुक्के के रूप में कस गया । " पुराना कभी नये युग की मांग पूरी नहीं कर सकता, जीवन का यह सिद्धान्त सदा सत्य रहा है और आज भी है ।

" यूरोप और अमरीका में विज्ञान का इतना विस्तार हुआ है कि अब मनुष्य चांद पर पहुंचने की बात सोच रहा है । केवल सोच ही नहीं रहा, प्रयत्न भी कर रहा है । अब हवाई जहाज़ संसार के भ्रमण का एक सामान्य साधन है । रेल गाड़ियां ५०-६०-१०० मील की रफ्तार से चलती हैं । मगर विज्ञान प्रयत्नशील है कि यही गाड़ियां रेल की पटरी से आधा-चौथाई इंच ऊपर उठकर चलें और ५००-६०० मील प्रतिघंटे की गति से चलें ।

" तो ऐसे प्रगतिशील संसार में रहने वाले बुद्धिवादी लोगों के लिए चावल भी नये ही चाहिए । इस तथ्य से जो इंसान इन्कार करता है, वह अपने-आपको ही धोखा देता है । मैं जानता हूं कि कुछ पुराने लोग, जो किसी भी नई वस्तु से डरते हैं, नये चावलों का विरोध करेंगे । वे कहेंगे कि पुराने चावल अमुक रोगों में अच्छे होते हैं । मैं उनके जवाब में यह कहना चाहूंगा, स्वस्थ मनुष्य बीमार नहीं है । बीमारों को पुराने चावल खाने दो, हम हस्तक्षेप नहीं करेंगे । मगर नये चावल स्वस्थ लोग खाएंगे, नये ज़माने के नये लोग खाएंगे । उनके लिए नये चावल आज के युग का वरदान हैं ।"

राजेश उठकर खड़ा हो गया । कुछ क्षण तक उसने अपनी आंखें मिच-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मिचाईं, फिर तीनों दिशाओं की ओर दृष्टि घुमाई, फिर एक हल्की मुस्कराहट उसके मुख पर बिखर गई। तीव्र उत्सुकता से भरे चेहरे उसकी ओर उठे हुए थे। अविश्वास के जो भाव सभा के आरम्भ में अधिकतर चेहरों पर मंडरा रहे थे, अब वे लगभग गायब हो चुके थे। उनकी जगह एक आस्था ने ले ली थी जिसे कुछ और संबल की तलाश थी। और यही संबल देने का इरादा राजेश के भीतर था।

"दोस्तो।"

हवा करते हाथ रुक गए। दृष्टियां और अधिक स्थिर हो गईं। आवाज़ पकड़ने के लिए अधीर कान अधिक व्यग्र होकर तरंगों की प्रतीक्षा करने लगे।

"अभी-अभी आपने मास्टर जी का विद्वत्तापूर्ण सार-गर्भित व्याख्यान सुना है। नये चावलों की महत्ता नये ज़माने के संदर्भ में क्या है, इसकी एक हल्की-सी झलक आपको देखने को मिली है। हम मास्टर जी के आभारी हैं, कि उन्होंने अपने ज्ञान की एक झलक हमें दी। पुराने चावल इतनी देर से हमारे बीच रहे हैं, कि अनायास यह विश्वास नहीं होता कि वे अब अपनी महत्ता खो बैठे हैं। यही कारण था, कि हमें अपना दृष्टिकोण व्यापक रूप से आपके सम्मुख रखने के लिए इस सभा का आयोजन करना पड़ा।

"नये चावलों की उत्पत्ति कहां हुई, क्योंकर हुई, इसका यहां महत्त्व नहीं है। महत्त्व इस बात का है, कि नये ज़माने के संदर्भ में ही नये चावलों का जन्म हुआ है। हमारे भारत के एक मित्र पड़ोसी देश में इस चावल का प्रथम आगमन हुआ; इस नये किस्म के चावल को अभी तक आपने देखा नहीं है—खाना तो दरकिनार। इस सभा की समाप्ति पर आपको इस नये चावल का भोजन कराया जाएगा, तब आप देखेंगे कि यह पुराने चावलों से किस कदर भिन्न है। इसका आकार शायद उतना भिन्न नहीं है, स्वाद भी इतना भिन्न नहीं है, मगर इसका असर भिन्न है। इसे खाकर एक विशेष मनःस्थिति का प्रादुर्भाव होता है जो आज के जीवन की विषमताओं से टक्कर लेने के लिए अधिक उपयुक्त है। पुराना चावल आदर्शों से भरा था, नया चावल जीवन की नग्नता से ओतप्रोत है। पुराना चावल हमें बल देता था, नया चावल हमें क्षीण करता है ताकि हम नये असर के नीचे जल्द से जल्द आ सकें। पुराना चावल हमें उपदेश ग्रहण करवाता था, नया चावल हमें सब उपदेश भूलने की योग्यता देता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"दोस्तो ! आप कहेंगे, यह कैसा चावल है, जो आदर्शों से डिगाता है, जीवन की नग्नता को सामने लाता है, नये असर के नीचे आने के लिए हमें क्षीण बनाता है। मगर ऐसा सोचने से पहले आप यह क्यों भूलते हैं कि हमारा समाज आज खोखला हो गया है, आदर्श केवल लेक्चर झाड़ने तक सीमित हैं, जीवन आज 'टापलेस' की अर्धनग्नता से पूर्ण नग्नता की ओर अग्रसर है। नये जीवन की विभीषिकाओं में आनंद-प्राप्ति के साधन तेज़ी से बदलते जा रहे हैं, और इन परिस्थितियों में जब तक हमारा नैतिक स्तर जल्द से जल्द बदलता नहीं, हम आज के आनंद के उपयोग से वंचित रहेंगे।

"दोस्तो ! इसीलिए मेरा निश्चित मत है कि आज के समाज व जीवन के संदर्भ में भारत में इस नये चावल का अपना महत्त्व है, जिसे जितनी जल्दी समझा जाए, अच्छा होगा।

"नये ज़माने के नये जवान मेरे साथ मिलकर बोलें, 'नया चावल, ज़िंदाबाद !' 'नये चावलों का नया इंसान, ज़िन्दाबाद !!' "

पहले नारे का चार-छः कंठों ने साथ दिया, मगर दूसरे नारे पर लगभग बीस-पच्चीस व्यक्तियों ने स्वर साधकर कहा, "ज़िन्दाबाद !"

इसके बाद रामेश्वर उठा। उसने अपनी जवाहर कट कुर्ती को खींचकर, उसपर अपनी हथेलियां रगड़ते हुए, नये चावलों की एक प्रशस्ति पढ़ी और कहा कि जो नये चावलों का विरोध करेंगे उन्हें प्रतिक्रियावादी घोषित किया जाएगा और वे देश के प्रति, देश के भविष्य के प्रति गद्दार होंगे।

अब माधव की बारी आई। उसने भी राजेश और रामेश्वर का साथ दिया। उसने कहा कि चावल खाने में बढ़िया हैं, और मास्टर जी, राजेश, रामेश्वर सब कहते हैं कि नये हैं, तो ज़रूर नये होंगे। हमें उनका कथन सत्य ही मानना चाहिए क्योंकि इतने सारे लोग झूठ नहीं बोलते। और झूठ बोला भी जाए, तो भी उसे सच समझना नये ज़माने का दस्तूर है।

इससे पहले कि कोई माधव की बात पर संशय प्रकट करता, रामेश्वर ने उसे आस्तीन से पकड़कर खींच लिया। और बोलते-बोलते, अपनी आस्तीन को छुड़ाते-छुड़ाते माधव के कदम लड़खड़ा गए और एक बार बैठकर वह बैठा ही रह गया।

और इससे पहले कि राजेश जी उठकर कुछ कहना चाहें, मास्टर जी ने हाथ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उटा दिया। "सज्जनो," उन्होंने अपनी चौकी पर पड़े कागज़ों को उलटते-पलटते हुए कहा। "सज्जनो, अब आप नये चावल की बानगी देखेंगे—मेरा आशय है, नये चावलों का भोजन अब आपके सामने परोसा जाएगा।"

सारा शामियाना एकाएक करतल-ध्वनि से गमगमा उठा। चेहरों पर रौनक आ गई। होंठों पर केवल नमी ही नहीं, मुस्कराहट भी पहुंची—और पत्तलों का ढेर लिए एक लम्बा-पतला जवान शामियाने में दाखिल हुआ।

"अबे ओ कलुआ!" राजेश ने पूरे कंठ से पुकारा। पतला जवान घूमकर खड़ा हो गया—"जी साहब!"

"इधर से शुरू कर! इधर, मास्टरजी से।"

कलुआ को बुरा लग गया। एक पल को उसने मुंह खोला, फिर बिना आवाज़ निकाले बन्द कर दिया। अपनी पतली मोहरी की पतलून से ढकी पतली टांगें उठाता, भीड़ में संभलकर पैर रखता वह मास्टर जी के पास पहुंच गया और धप् से एक पत्तल डैस्क पर डाल दिया। जब वह मुड़ा, तो राजेश उसपर मुस्करा रहा था, सारी जनता पंगत में बैठी पत्तलों की बाट जोह रही थी, और कलुआ के भीतर रोष की गांठ घुलनी आरंभ हो चुकी थी।

× × ×

रामगढ़ की मंडी में रात के आठ ही बजे थे, मगर अभी से सड़क पर गीदड़ घूम चुके थे और सन्नाटा बोलने लगा था। 'नये चावलों की आढ़त' पर आज भी वही प्रकाश की अकेली झिरीं कांप कर स्थिर हो रही थी। और भीतर ढिबरी के चारों ओर चार व्यक्ति बैठे थे।

"तो फिर आज हो जाए," राजेश ने कहा। "अबे ओ कलुआ!"

"जी, आया!"

राजेश मोटी कांच के पीछे से हंसा। "बोलो, साथ क्या खाओगे! मछली या मुर्गा?"

"सीख कबाब मंगाओ, यार!" रामेश्वर ने कहा। "क्या कहते हो, मास्टर?"

"जो चाहो मंगाओ भई, हमें तो खाने-पीने से मतलब है।" और शुभ्र दांत खादी के कुर्ते-धोती के ऊपर चमक गए।

"हमारे लिए तो भाई दालमोठ मंगाना…"

माधव को राजेश ने बीच में ही टोक दिया, "और पेठा भी!" और फिर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वह ठहाका मारकर हंस पड़ा।

माधव खीझ उठा। "तुम अपनी बदतमीज़ी कभी नहीं छोड़ोगे।"

"अरे हां, कलुआ, जरा दौड़कर बाज़ार जाओ। चार ये लाओ···" और उसने हाथों से संकेत कर दिया। "साथ शामी कबाब और सीख-कबाब पाव-पाव लेते आना। और देखो, आधा-आधा पाव दालमोठ और पेठा भी। समझे?"

"जी?" कलुआ ने बारी-बारी से राजेश और माधव की ओर देखा। "स्टोव पर पानी चढ़ा जाऊं, साहब?"

"अरे हां, हां, चढ़ा जाओ। और ज़रा आंधी की तरह जाओ, तूफ़ान की तरह लौटो। मगर देखो, भटक मत जाना।"

"बस, अभी लीजिए साहब!" और चुटकी बजाकर कलुआ दूकान के पिछ-वाड़े में समा गया।

"बड़े काम का आदमी है यह!" रामेश्वर ने कहा। "राजेश भाई, इसका भी कभी कुछ काम-वाम बनाओ।"

"बनवाएंगे—बनवाएंगे। तुम सब्र से देखते जाओ। मुझे तुम सब लोगों का खयाल है।"

मास्टर जी मुस्कराए जा रहे थे और चारों तरफ देखते जा रहे थे। दुकान का रंग-ढंग अब पलट चुका था। आलों पर चावलों के थैले ही थैले नज़र आ रहे थे। छोटे-बड़े कई आकारों के थैले। साफ़-सुथरे लकड़ी के बने आले छत तक चले गए थे। और नीचे ज़मीन पर जूट का रंग-बिरंगा कार्पेट बिछा था और बही-खाते लाल-लाल कपड़े से ढके एक स्टील के रैक पर शोभा दे रहे थे। और लकड़ी के छोटे-से डेस्क पर जो राजेश की पीठ पीछे पड़ा था, पालिश की लाली ढिबरी के मध्यम प्रकाश में भी ऐसे चमक रही थी, जैसे लक्ष्मी की छोटी-सी मूर्ति जो एक आले के बीचोंबीच पड़ी थी और जिसके पास लाल-सफ़ेद फूलों की पंखुड़ियां बिखरी पड़ी थीं।

"इस बार एक कैलेंडर छपवाओ", मास्टर जी ने कहा। "उसपर एक तरफ एक नौज़वान का चित्र हो, और नये चावलों का संक्षिप्त इतिहास दूसरी तरफ हो। हर दो किलो के पैकेट पर एक कैलेंडर मुफ़्त। मुझे अगर बम्बई भेज दो, तो कैलेंडर छपवाने का यह काम मैं किफ़ायत से करवा दूंगा।"

मास्टर जी के प्रस्ताव का उत्तर किसीने नहीं दिया। मगर प्रस्ताव सुनकर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

माधव अपनी जांघ पर हाथ फेरने लगा था, रामेश्वर अपनी वास्कट खींचने लगा था, और राजेश की आंखें मिचमिचाने लगी थीं और तीनों की निगाहें एक-दूसरे के भाव पढ़ने में व्यस्त थीं।

"इसपर भी सोचेंगे, मास्टर जी।" आखिर राजेश ने कहा। "इसपर भी सोचेंगे। अभी तो हम यह सोच रहे हैं कि दो गैस के हंडे ले आएं ताकि शाम पड़ने पर भी दुकान चमचमाती रहे, ग्राहक आते रहें, माया तिजोरी में पड़ती रहे। एक नई शाखा शहर के बाज़ार में भी खोल दें, तो जो कमीशन हम दूसरों को देते हैं वह भी हमारे ही पास आएगा। चिट्ठी-पत्री हो रही है बम्बई और कलकत्ते के सेठों से। अगर बेल मंढे चढ़ी, तो एक-एक शाखा इन शहरों में भी खुल जाएगी। उनके लिए कुछ दलाल मैनेजरी के लोभ में हमारे लिए भाग-दौड़ कर रहे हैं। हम भी उन्हें चकमा दिए जा रहे हैं। बिक्री का कुछ न कुछ हिस्सा तो हमें भी मिलेगा ही, और माल भी हमारा ही बिकेगा। बस, अब देखते जाओ…"

"वह देखो, अमां यार!" माधव ने एकाएक फुसफुसाकर कहा। "मैं कहता हूं, चूहेदानी जल्द से जल्द मंगवा लो, वरना सारा मुनाफ़ा यही खा जाएंगे सुसरे।" और उसने एक कोने में चमकती नन्ही-नन्ही कई आंखों की ओर इशारा कर दिया। फिर साथ पड़ी छड़ी उठाकर उसने ज़ोर से दे मारी। चमकती आंखें अंधेरे में तितर-बितर हो गईं। "देखा तुमने? कैसे गायब हो गए!"

"अरे, मानते हैं तुम्हें दोस्त, हम तुम्हें हमेशा से मानते आए हैं।" रामेश्वर ने कहा। "हमारे गिरोह में तुम्हीं तो इन छोटी-छोटी बातों का खयाल रखते हो। वरना राजेश तो बड़े-बड़े मंसूबों की ही सोचता रह जाए और इधर मैदान दुश्मन के हाथ लग जाए।"

"लो, आ गया।" राजेश ने कहा। "ओ कलुआ, इधर ला इधर! इतनी देर लगा दी। हमारा तो गला ही खुश्क हुआ जा रहा है।"

"आया हज़ूर! अभी आया।"

चार जोड़ी बेताब आंखें और चार अदद सूखे हलक! सामान, प्लेटों में सजकर सामने आ गया, बोतलें खुल गईं, गिलास भरे गए, काफ़ी का अकेला प्याला लबालब भरा भाप छोड़ता गया।

"लुत्फ़ आ गया!" दालमोठ की एक फंकी माधव ने मुंह में डाली।

"कबाब भी बुरे नहीं हैं," रामेश्वर ने अपने दांत भुने मांस में गाड़ दिए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मगर कलुआ अपनी आदत के अनुसार अभी तक अंदर नहीं गया था। वह वहीं खड़ा था और इंतज़ार कर रहा था।

"क्या बात है, कलुआ ?" राजेश ने पूछा।

"हुज़ूर, खता माफ़ हो, तो कहूं···" कलुआ हाथ जोड़कर आगे बढ़ आया। "बहुत बुरी बात सुनकर आया हूं, हुज़ूर।"

"जा-जा, दफ़ा हो ! क्यों हमारे मज़े में खलल डाल रहा है", मास्टर जी ने हाथ के इशारे से कलुआ को बरखास्त करना चाहा। "न जाने कहां से गंवार आ जाते हैं।"

"ठहरो !" राजेश ने कहा और गिलास से एक घूंट भर कर नीचे रख दिया। "क्या बात है, कलुआ ? बताओ।"

"हुज़ूर, बहुत बुरी बात है।"

मास्टर जी ने अपने कान कलुआ की ओर से बंद कर लिए। शामी कबाब की एक टिकिया उठाकर शांतिपूर्वक उन्होंने मुंह में डाल ली।

"मैं हलवाई की दूकान पर गया था," कलुआ ने कहना जारी रखा। "वहां तीन-चार आदमी बातें कर रहे थे। एक कह रहा था कि नये चावल रूस से लाए गए हैं। दूसरा बोला कि नये चावल चीन से आए हैं। तीसरे ने कहा कि तुम दोनों ग़लत कहते हो, नये चावल यहीं के, यानी भारत के चावलों की ही नई किस्म का नाम है। इन सबको सुनकर तो मैं मुस्कराता रहा, मगर चौथे आदमी की बात सुनकर मैं सन्नाटे में आ गया। जमीन मेरे पांव के नीचे से सन्न से निकल गई। बस, दालमोठ-पेठा लेकर भागता हुआ चला आ रहा हूं।"

माधव, रामेश्वर, राजेश, तीनों ने खाना-पीना बंद कर दिया था और गंभीरता से कलुआ की बातें सुन रहे थे। मगर मास्टर जी घूंट भरने में तन्मय थे और उनकी आंखें ब्रह्मानंद में लीन होने के लिए आतुर दिखाई दे रही थीं।

कलुआ की सांस तेज़ी से चल रही थी, जैसे अभी उसका दम घुट जाएगा और फिर हवा उसके फेफड़ों में न जा सकेगी। वह तेज़ी से बोलता गया।

"उसने कहा, 'मैं जानता हूं, नये चावलों का रहस्य। नये चावल भारत के चावलों की ही एक किस्म हैं। भांग के पानी में भिगोकर सुखाए गए हैं ये चावल ! न मानो, तो इसी तरह तैयार करके पकाकर देख लो।' यह सुनकर बस भागता हुआ चला आ रहा हूं।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

राजेश की आंखें एकाएक मिचमिचा उठीं। माधव कुछ तनकर बैठ गया। रामेश्वर अपनी हथेलियां फुरती से वास्कट पर रगड़ने लगा। केवल मास्टर जी निर्लिप्त साधुभाव से कबाब चबाते रहे, गिलास में से घूंट भरते रहे।

"इधर आ।" राजेश एकाएक चिल्ला उठा। उसका सारा शरीर तन गया था, जैसे धनुष पर तीर चढ़ गया हो। उसकी आंखें एकाएक कांच के पीछे खौफ़नाक ढंग से स्थिर हो गई थीं।

"इधर आ!" राजेश दुगने वेग से चिल्लाया और उठ खड़ा हुआ। कलुआ खड़ा न रह सका। उसकी लम्बी टांगें उसके नीचे मुड़ गईं और राजेश के सामने उसने घुटने टेक दिए।

राजेश ने उसे कमीज़ के कालर से पकड़ लिया। "बता, साफ़-साफ़ बता, यह भेद तूने किसीसे कहा था?"

कलुआ की गर्दन की घुंडी कई बार ऊपर-नीचे हुई और फिर शांत हो गई। उसकी तंग मोहरी की पतलून और ऊंची बुशशर्ट उसे और भी ऊंचाई दे रहे थे, और बैठा हुआ भी वह राजेश से लम्बा लग रहा था। वह चुपचाप राजेश की ओर देख रहा था, मगर उसकी आंखों में जो आंसू लबालब भर आए थे, वे बहुत कुछ कह रहे थे, बहुत कुछ बता रहे थे।

"तू बोलता क्यों नहीं?" राजेश ने कड़ककर कहा।

"मैं···मैं···" और कलुआ की आंखों से आंसू टप-टप उसके गालों पर ढुलकने लगे।

"मैं के बच्चे!" राजेश ने अपना बलिष्ठ मुक्का तानकर कहा।

"बेचारे को बोलने तो दो!" माधव ने आगे बढ़कर कहा। कॉफी का आधा प्याला पीकर उसमें कुछ हिम्मत-सी आ गई थी और वह कलुआ को यूं पिटते न देख सकता था।

"तो कौन रोकता है इसे बोलने से?" राजेश ने कलुआ की गर्दन को एक झटका देकर पूछा।

"छोड़ो-छोड़ो!" रामेश्वर ने उठकर कहा; वह कलुआ के बिलकुल पास आ गया था! न जाने क्या सोचकर राजेश की पकड़ छूट गई और वह धम् से फर्श पर बैठ गया। रामेश्वर कलुआ की ओर घूम गया। "सच सच बताओ, कलुआ। हम तुझे कुछ नहीं कहेंगे।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कलुआ कमीज़ की बांह से अपने आंसू पोंछने लगा। उसकी नाक चलने लगी थी और मोटी भंवों की लकीरें साथ-साथ मिलकर एक लम्बी लकीर में परिवर्तित हो गई थीं।

रामेश्वर कलुआ के पास आ गया। "तुम चिन्ता मत करो। रोओ मत, कलुआ।" उसने नेता के-से अंदाज़ में रोते हुए नौजवान के कंधों पर हाथ फेरा। ढिबरी की रोशनी एकाएक चटक गई; एक पतिंगा जलकर भस्म हो गया।

और रोशनी फिर अपनी मद्धिम लौ पर आए न आए कि एक विस्फोट-सा हुआ और—

कलुआ ने रामेश्वर का हाथ एकाएक जोर से झटक दिया। उसकी पल-भर पहले की रोती आंखें अंगारों-सी दहकने लगीं।

"मुझे मत छुओ। मुझे तुम्हारी कोई ज़रूरत नहीं। मैं नये चावलों का मुंहताज नहीं हूं, नये चावलों की आढ़त का मुहताज नहीं हूं। मेरा अपना जीवन है—इस आढ़त से बाहर, खुले आकाश के नीचे, हरियाली घास के ऊपर, कोलतार की सीधी-टेढ़ी सड़क पर, बहते कलकल करते पानी के किनारे··"

कलुआ कहता जा रहा था और राजेश देख रहा था मोटे चश्मे के पीछे से। माधव खड़ा सब कुछ देख-सुन रहा था और उसका हाथ अपनी जांघ को सहला रहा था जैसे कलुआ का प्रहार वहीं हुआ हो। रामेश्वर अपनी वास्कट खींचता जा रहा था जैसे उसका हाथ कलुआ ने नहीं वास्कट ने झटका हो। और मास्टर जी की छोटी तीखी आंखों के पीछे एक चमक इकट्ठी हो रही थी, जो इस दूकान में आने के कुछ देर बाद ही उसके तीन मालिकों ने बिलकुल बुझा दी थी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तीन चौखटे

पांच बजकर पच्चीस मिनट पर चड्ढा ने चप्पल पहनी ग्रौर बोला, "मैं जा रहा हूं, ज़रा बाहर, ग्रभी घंटे-डेढ़ में ग्रा जाऊंगा।"

स्वर्ण ने रसोई के भीतर से ही कहा, "गुड्डी को दूध पिला चुकी हूं। चाय ऊपर रखी है, पीकर ही चले जाग्रो।"

"नहीं, ग्रब वक्त नहीं है। बाहर ही पी लूंगा," चड्ढा ने तहमद कसकर बांध ली। इन ग्रौरतों को काम के वक्त ही खाने-पीने की सूझती है, वरना न जाने क्या खटर-पटर करती वक्त खराब करती रहती हैं।

चड्ढा बाहर ग्रा गया। बस्ती की पूरी लाइन में सिर्फ वही था जो ग्राज सिरदर्द का बहाना करके दो बजे ही दफ्तर से घर ग्रा गया था। तहमद बांध-कर बिस्तर पर लेट गया था कि घड़ी-दो घड़ी बदन की ग्रकड़ाहट तोड़ ले, मगर ग्राराम रत्ती-भर को नहीं मिला था।

ग्रौर ठीक साढ़े पांच बजे वह घर से बाहर निकल चुका था।

दाईं तरफ घूमकर उसने बड़ी सड़क की ग्रोर पांव बढ़ाया ही था कि फड़ाक् से उसके पीछे घर का दरवाज़ा खुल गया। "गुड्डी को भी घड़ी-भर घुमा लाग्रो न, मुझे रसोई का काम करना है।"

चड्ढा ने घूरकर स्वर्ण की तरफ़ देखा। सुनहले बालों की लटों में लिपटा उसका कुंदनी चेहरा, जिसपर छोटी-सी नाक पर लौंग की चमक प्यारी लग रही थी, उसे इस वक्त रुचिकर नहीं लगा। "तुम भी बेवक्त की शहनाई छेड़ देती हो। लाग्रो, तुमसे बहस कौन करे।"

ग्रौर गुड्डी को बांहों में लेकर वह ग्रागे बढ़ गया। कलाई पर बंधी उसकी घड़ी में पांच बजकर पैंतीस मिनट हो चले थे ग्रौर वह एक भी मिनट ग्रौर खराब नहीं करना चाहता था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गुड्डी उसके कंधे से लगी चुपचाप पड़ी थी और चड्ढा तेज़ी से चलता जा रहा था। चौक के पेड़ों के नीचे से निकलते हुए कौवे की बीट उसकी बांह पर टपक गई। उसने चलते-चलते ही एक झाड़ी से पत्ता तोड़ लिया और बीट साफ़ कर दी। साइत अच्छी थी; चड्ढा को यकीन हो गया था कि उसका काम हो जाएगा।

वह अब लगभग भागने की-सी चाल से चलने लगा। वह सब मामला अपनी आंखों से खुद देखना चाहता था। देर से पहुंचा तो सारा मामला बिगड़ जाएगा। आखिर पैसे भी तो उसे ही देने हैं; फिर वह यकीन के बाद ही क्यों न दे?

बस-स्टाप का लम्बा प्रतीक्षा-स्थल सड़क के पार था, और चड्ढा के कदम रुक गए थे। उसने घड़ी की ओर देखा, पांच बजकर पैंतालीस मिनट हो चुके थे।

उसे अधिक देर प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। दस मिनट बाद ही शहर से आती हुई दो साइकिलों की सड़क पर टक्कर हो गई। एक गोरा सुन्दर नौजवान गिरते-गिरते बच गया, मगर अधेड़ उम्र, ऊंचे लम्बे लुंगी और बनियाइन पहने आदमी ने, जो अपनी साइकिल से सड़क पर गिरकर चारों खाने चित हो गया था, उठकर नौजवान को गले से पकड़ लिया। आन की आन में उसने एक के बाद एक तीन घूंसे नौजवान की कनपटियों पर रसीद कर दिए।

"एक और मार।" चड्ढा ने ज़ोर से कहा। "एक और मार साले को!!"

नौजवान के चेहरे से ख़ून टपकने लगा था। वह संभलने की कोशिश कर रहा था। अधेड़ उम्र आदमी से छूटकर उसने सड़क के किनारे से एक बड़ा-सा पत्थर उठा लिया।

अधेड़ उम्र व्यक्ति की आंखों में दहशत भर गई। "कोई है?" उसने चीख़कर कहा और नौजवान से बचने के लिए सड़क पर दायरे बनाता हुआ भागने लगा। बीच-बचाव करने वालों की भीड़ इस भाग-दौड़ में तितर-बितर हो गई।

चड्ढा ने देखा, एक ठेला सरपट भागता शहर की तरफ़ से आ रहा था। घोड़े की रास थामे एक ऊंचा लम्बा आदमी ठेले में खड़ा चाबुक हिला रहा था और घोड़े के गले की घंटियां बेतरह टनटना रही थीं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सड़क पर भागते नौजवान और अधेड़ आदमी के ऐन पास आकर ठेला रुक गया। ठेले पर खड़े तहमद पहने आदमी ने रास परे फेंक दी और खुद दूसरी तरफ सड़क पर कूद पड़ा।

भयभीत भागता हुआ अधेड़ आदमी खड़ा हो गया। नौजवान के हाथ के पत्थर को पीछे से पकड़कर वह घूमता गया। तब तक ठेलेवाले ने नौजवान को गले से पकड़ लिया और न जाने क्या हुआ कि आधे मिनट से भी कम बाद नौजवान सड़क पर ढुलक गया। पत्थर नौजवान आदमी के हाथों में रह गया, और ठेलेवाले के हाथ शून्य में गला दबाने के अन्दाज़ में जड़ हो गए।

तमाशबीनों की भीड़ एकाएक फिर इकट्ठी हो गई। नौजवान के चारों ओर बीसियों आदमी जुड़ गए।

ठेलेवाले के पास आकर एक महिला चिल्लाई, "यह है हत्यारा! अपने बेटे की उम्र के बच्चे पर हाथ उठाते तुम्हें शर्म नहीं आई?"

ठेलेवाला सिर झुकाए खड़ा हांफता रहा।

"कोई स्कूटर-टैक्सी रोको। लड़के को अस्पताल पहुंचाओ, वरना यह मर जाएगा।" एक आदमी ने कहा।

"सांस अभी चल रही है," एक युवक ने बेहोश नौजवान पर झुककर कहा। "मुंह से खून निकल रहा है।"

"पुलिस को बुलाओ, पुलिस को," एक पतले-से पीले व्यक्ति ने कहा, जो सूट-बूट पहने था।

पुलिस! चड्ढा ने अपने चारों तरफ़ देखा। ठेलेवाले को तीन आदमी घेरे खड़े थे; साइकिल वाला अधेड़ उम्र व्यक्ति गायब हो चुका था; खून से सना लड़के का रूमाल किसी दर्शक के हाथ में हिल रहा था।

ठेलेवाले को डांटने वाली महिला चड्ढा से कह रही थी, "आप कैसे इस लड़के को पीटने के लिए बढ़ावा दे रहे थे। आपको तो इसने कुछ नहीं कहा था··?"

"मैं···मैं···" चड्ढा ने खिसियाकर बगलें झांकना शुरू किया। महिला की नज़र बचाकर वह भाग निकला। चौराहे के पेड़ों के नीचे पहुंचकर उसने पलटकर पीछे देखा। संध्या के धूमिल प्रकाश में बिजली की फीकी रोशनियां जगमगा रही थीं और सड़क पर भीड़ तीन-चार जगह बिखरी पड़ी थी। पुलिस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अभी नहीं पहुंची थी। सब ठीकठाक निपट गया था। गुड्डी आंखें फाड़-फाड़कर चारों तरफ़ देख रही थी।

"आज मैं पिक्चर जा रही हूं, भैया!" सरला ने कहा। "शाम को देर से आऊंगी।"

"कहां जा रही है? किसके साथ जा रही है?" चड्ढा ने पूछा। वह दाढ़ी बना रहा था, तीसरी बार मुंह पर साबुन के झाग फैला रहा था।

"कुलदीप के साथ जा रही हूं, डिलाइट में," सरला ने ट्रंक से अपना सफेद पर्स निकाल लिया था और उसमें पैसे रखने लगी थी। ट्रंक सामने खुला पड़ा था और कपड़े करीनेवार लगे थे। दाईं ओर के परे के कोने से उसने लिप्स्टिक निकालकर चुपके से पर्स में डाल ली थी, ऐसे कि भाई की नज़र न पड़े। वह जानती थी, भाई बहुत तेज़ तबियत थे और लाली-लिपस्टिक बिलकुल पसन्द नहीं करते थे। मगर सरला जानती थी, इसमें कोई बुराई नहीं है···आख़िर अच्छी दिखने में क्या बुराई हो सकती थी? दफ्तर से चलते समय शाम को लगा लेगी और लौटते हुए बस में पोंछ डालेगी।

"अरी गुड्डी, मरी, क्या कर रही है?" भाभी की तीखी आवाज़ रसोई से आई और फिर बिलकुल पास से···"अजी आप तैयार नहीं हुए? जाओ, जल्दी जाकर नहा लो। पानी रख दिया है।"

भाभी दरवाज़े पर खड़ी थीं। कुर्सी पर बैठकर सरला ने सैंडल बांधना शुरू किया। कनखियों से उसने भाभी की ओर देखा और भैया की तरफ़ हल्का-सा इशारा कर दिया।

भाभी मुस्करा दीं। आश्वस्त भाव से चड्ढा की ओर मुड़कर बोलीं, "जाने दो लड़की को। सहेलियों के साथ कभी-कभार सिनेमा देखने में क्या हर्ज है?"

चड्ढा कुछ कहने जा रहा था। मुंह बंद करके वह पुनः शीशे में अपने चेहरे का निरीक्षण करने लगा। सरला को लगा, भैया का चेहरा कठोर है, वह कभी भी उबल पड़ सकते हैं। वह चुपचाप उठकर रसोई की तरफ़ चली गई।

"आ गुड्डी, आ!" उसने अपनी उंगली गुड्डी के गदराए हाथ में पकड़ा दी और प्याला सरकाकर चाय डालने लगी। वह बहुत ध्यान से चटाई पर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उकड़ू बैठ गई, ताकि कपड़ों की सलवटें न बिगड़ें। गुड्डी को परांठे का एक टुकड़ा थमाकर वह नाश्ता लेने लगी।

डिलाइट सिनेमा की लाबी में, टिकटघर से थोड़ा हटकर सरला खड़ी थी और भीड़ का ज्वार-भाटा देख रही थी। वह जवान अजीब-सी अकड़ के साथ चलता था; पतली मोहरी की पैंट में वह क्या लड़कियों-सी कमर हिलाता था! गले में कमीज़ के कालर के नीचे हरा रेशमी रूमाल और बचपने होंठों पर पतली ब्लेड की धार-सी मूंछें। और इधर एक मोटा अधेड़ बनिया; किस शान से वह मूंछों पर हाथ फेर रहा था!

"मरी कुलदीप आती ही नहीं।" सरला ने अपने एक पैर को उठाकर शरीर का बोझ दूसरे पैर पर डाल दिया। वह जानती है, लिप्स्टिक-रंगे होंठ उसके निखार को चार चांद लगा देते हैं। मगर इन मूरतों को देखकर, और अकेलेपन से घिरकर वह घबरा गई थी। या कुलदीप जल्दी आ जाए, या फिर निर्मल···निर्मल के साथ पिक्चर जाने का मजा ही और था। उसके साथ तो पिक्चर देखे तीन महीने गुज़र चुके थे। दोनों अंधेरे में हाथ पकड़कर बैठते थे। काश!

धत्! खुद ही तो उसने निर्मल से तोड़ ली थी। बिचारा कितना कहता था, चल हम-तुम शादी कर लें। सरला की ही तो हिम्मत नहीं हुई। ना बाबा, भैया से उसे बहुत डर लगता है। एक झिड़की दे दें तो जान ही निकल जाए। भैया ने कहा था, 'निर्मल के साथ देखा, तो जान काढ़ लूंगा तेरी!'

वह शायद कुलदीप है, नीली कमीज़ पर चांदनी की ओढ़नी! वाह, क्या ठाठ से चली आ रही है। सरला के चेहरे का तनाव बिखर गया। मुस्कराहट उसके भीतर से निकलकर होंठों की कोरों पर आ बैठी।

"चल!" कुलदीप उसके सामने पहुंचकर खड़ी हो गई। मरी, कैसे छातियां काढ़े खड़ी थी। आंखों में न जाने कैसा कालापन था कि वे कौड़ियों-सी चमकने लगी थीं।

सरला ने कुलदीप का हाथ थाम लिया और दोनों चल दीं। दो रुपये की क्लास में घुसते न घुसते दो जवान लड़कों ने सीटी मार दी, आंखें नचा दीं। सरला की चाल का बांकपन और कुलदीप का अल्हड़पन निखर आया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अंदर सीट पर बैठकर कुलदीप ने सरला के कुहनी मारी। "मरी, बुल्लियां न रंगाकर। नहीं, किसी दिन कोई मनचला उठाकर ले जाएगा।"

सरला ने आंखें तरेरकर सहेली को ताका। "क्या कहा ?"

"और नहीं तो ! वह बिचारा निर्मल तो हड्डियां तुड़ाकर···"

"क्या कहती है ? क्या बक रही है तू ?"

"बक नहीं रही हूं। बताऊंगी तुझे। पिक्चर देख लें, फिर सब बताऊंगी।" कुलदीप ने छाती पर दुपट्टा सहेजना शुरू कर दिया।

"तुझे मेरी कसम !" सरला अपनी सीट पर बैठी-बैठी ही घूम गई। उसका एक हाथ कुलदीप की जांघ पर गड़ गया। "अभी बता, नहीं तो···" घबराहट उसके कलेजे में आ बैठी थी। मरी ऐसे ही वक्त-बेवक्त बेसिर-पैर बकती रहती है। मगर हड्डियां···वह तो निर्मल साइकिल से गिरा था।

सरला ने कुलदीप की भरी जांघ पर चिकोटी काट ली। "बोलती है कि नहीं ?"

सिनेमा-हाल में रोशनी बुझ गई थी। विज्ञापन की स्लाइडें पर्दे पर आ-जा रही थीं। एक लोकप्रिय गाने की धुन क्लैरिनेट पर बज रही थी। मगर सरला कुलदीप की तरफ से हटी नहीं, वैसे ही बैठी रही।

"मरी, सीधी बैठ।" कुलदीप ने अपनी जांघ छुड़ा ली और सरला के कन्धे पकड़कर उसे सीधा बैठा दिया। "लोग क्या कहेंगे, यह तो सोच लिया कर।"

सरला का मन मर-सा गया। आंखों पर हलका-सा परदा आ गया। "मेरी कसम, कुलदीप ! अभी बता दे, मैं तेरी काली गऊ। निर्मल तो···" और फिर उसकी आवाज़ कांपकर टूट गई, और गहरे निःश्वास के बाद···मौन···मौन···मौन···

गाने के बोल गूंजते गए। दर्शकों का शोर बढ़ता गया। कुलदीप ने अपनी ओढ़नी के छोर दोनों हाथों में पकड़कर मोड़ दिए, मोड़ती चली गई।

"बात यह है सरला, कि···वह अपना दीना है ना, वह मेरे चाचे का लड़का ? वह बता रहा था। दो-तीन महीने पहले जो निर्मल को चोट लगी थी न—वह···वह···न जाने सच भी है या नहीं। भगवान् जाने ! कह रहा था, हलवाई से चड्ढा साहब ने पिटवाया था उसे। पैसे देकर। गिरा नहीं था निर्मल। हाथ-पैर पर कहीं भी चोट नहीं आई थी उसे। उसके गले की नस दबी थी, मुंह से खून

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आया था। मुझे तो पता नहीं है। दीना कह रहा था, बस। मैंने पूछा था, 'तुझे सच ठीक-ठीक पता है ?' तो बोला था, 'झूठ क्यों कहूंगा मैं ? हलवाई से नहीं, मुझे किसी और से पता चला है। मगर बिल्कुल सही खबर है।' मुझे तो फिर भी विश्वास नहीं आता, सरला। चड्ढा साहब ऐसा क्यों करवाएंगे, भला ? उन्हें क्या पड़ी है ? मगर दीना कह रहा था, 'यह तो अब सभीको पता है। किसी-से छिपी नहीं है यह बात।' चड्ढा साहब उस दिन छुट्टी पर थे, दोपहर को उन्हें घर पर देखा था पड़ोस की औरतों ने !"

पिक्चर कब शुरू हुई, सरला को पता नहीं चला। पिक्चर में क्या देखा, सरला को याद नहीं। चड्ढा साहब ने—भैया ने—पिटवाया था निर्मल को—पिटवाया था—निर्मल को—तभी वह—तभी वह—वह कहते थे, तू मुझसे न बोल, यही बेहतर है। तभी—तभी—निर्मल ने उससे बिलकुल काट दी है; मगर वह तो सरला ने खुद ही कहा था, 'अब मुझसे न मिला करो आप ? भैया गुस्सा करते हैं, न जाने क्या कर दें किसी दिन।'

हुंः, तो भैया ने कर ही दिया। निर्मल की एक्सीडेंट की बात वह जानती है। अगले दिन ही जान गई थी वह तो। भैया के डर से नहीं गई थी अस्पताल, मगर चंचल को भिजवाकर उसका हाल ज़रूर पुछवा लिया था उसने।

साइकिल की साइकिल से टक्कर···मोटे हलवाई के भारी हाथ की मार··· मुंह से खून···बेहोशी···अस्पताल में सूजा हुआ चेहरा···सरला को लगा, जैसे न देखकर भी उसने सब देख लिया है। सारी घटना उसके दिल पर खिच गई थी···और···और न जाने कैसी क्रोध और स्नेह की लहरें उसके भीतर उठ-गिर रही थीं। सो निर्मल ने उसके लिए—सरला के लिए—मार खाई है ? भैया ने पिटवाया है निर्मल को ?

निर्मल से वह कल ही मिलेगी। सब सही-सही बातें जानेगी, और फिर वह सब कुछ ठीक कर देगी। सरला बच्ची नहीं है, बाईस की है। उसे भैया ने क्या समझा है ? उस लाल आंखों वाले कैलाश को कहते थे, बड़ा अच्छा है। भैया का अफ़सर है ना ? सरला सब समझ गई है। समझ गई है।

निर्मल की सोचकर उसे रुलाई आने-आने को हो रही थी, और ज़बर्दस्ती वह आंसुओं को भीतर रख रही थी। उसे रोना नहीं है। उसे अब जैसे भी बने भैया के इस अत्याचार का जवाब देना है। यह भी भला कोई बात हुई—कि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ऐसे ही किसीको पिटवा दिया।

अगर निर्मल को कुछ हो जाता तो ?

पिक्चर खत्म होने तक सरला ने फैसला कर लिया था। 'जन मन गण' बजने लगा, तो कुलदीप ने संजीदगी से सरला की तरफ देखा। "बस, यही कलेजा लेकर इश्क करने चली थी ?" उसने फुसफुसाकर कहा। "मरी, हौसला कर। मरा नहीं है निर्मल !"

झपटकर सरला ने कुलदीप के मुंह पर हथेली रख दी। उसकी आंखें आंसुओं से भर रही थीं और उसके होंठ सख्ती से भिंच रहे थे।

"चार मठरी देना।"

"एक पाव बरफी।"

"आधा दर्जन रसगुल्ले जल्दी से दे दो, मुझे जाना है।"

"मलाई डालकर एक गिलास चाय का आ जाए, मुंडू। बहुत जल्दी !"

इस आखिरी फ़रमाइश पर लछमन ने बरफी तोलते हुए नज़र उठाकर बिजली के लट्टू से परे देखा। "अच्छा, तो तू है ? इधर आकर बैठ, साले ! अभी तुझे मलाई की चाय देता हूं।···अबे ओ मुंडू ! बाबूजी की बात सुनी है या सुनाऊं ?"

भीतर से मुंडू अपने कुर्ते पर हाथ पोंछता मिठाई के थालों के पीछे आ खड़ा हुआ। "जी, क्या हुकम जी ?"

"अबे हुकम के बच्चे ! एक गिलास चाय···और ऊपर यह मोटी मलाई। भीतर से निकालकर दे। और सुन···फुरती से हाथ चला, वरना मेरा हाथ कहीं ना चल पड़े ! हां। बैठ ना, बलबीरा ! वह कुरसी खींच ले !"

और फुरती से लछमन ने बरफी का लिफाफा बच्ची को पकड़ा दिया। कसोरा पानी में भिगोकर आधा दर्जन रसगुल्ले उसमें भर दिए। गल्ले में पैसे पड़ते रहे, हाथ चलते रहे, धुलते रहे, पुंछते रहे।

"हां भाई बलबीरा, फिर सुना ना ? क्या ख़बरें हैं ? बहुत दिन बाद इधर आया, भाई ! बहुत काम रहा क्या ?"

बलबीरसिंह ने दाढ़ी के बाल खींचे, संवारे, मूंछों पर बल दिया। फिर उसने चाय का गिलास पकड़कर कहा, "बहुत काम था, यार। वक्त ही नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मिला। ट्रक लेकर एक चक्कर चण्डीगढ़ का लगा आया, लौटा तो कलकत्ते के चक्कर का काम खड़ा था। बस, हम तो चरखे हैं, चलते रहो, हत्या लेकर साली सड़कें नापते रहो!···" नंगे लट्टू के प्रकाश में कुछ देर चाय की चुस्की की आवाज़ें आती रहीं और खामोशी गहराती रही। फिर, "और एक तुम हो। मलाइयों की ऐश मारते हो!"

"अबे बस कर ओहे, बस कर!" लछमन ने कहा, और फिर दुष्ट मुस्कराहट उसके चिकने चेहरे पर फिसल गई। "कोई चीज़-वीज हाथ लगी या नहीं इधर? बहुत देर हो गई कुछ चक्खे!"

बलबीरसिंह ने अपनी पगड़ी का लड़ खींचकर मुंह पोंछा और ज़बान होंठों पर चलाई और पगड़ी के लड़ को वापस सफाई से खोंस लिया। "ओहे, बस कर अपने किस्से। चीज़ हाथ आई तो है···बस कुछ नोट दरकार हैं। कुछ पचास-सौ का बन्दोबस्त कर सकता है क्या?"

"तेरी कसम, आज ही घर मनीआर्डर किया है दो सौ का। इस वक्त तो बस, देख ले··गल्ला गंजी चांद-सा खाली है।"

बलबीरसिंह ने मूंछों को कसकर ताव दिया। "यह काम तो तुझे करना ही पड़ेगा। बीस दिन के फाके हैं हमारे, और अब यह चूज़ा हाथ से जाएगा, यह असूल नहीं बलबीरसिंह का।···निकाल क्या है गल्ले में? गंजा लाख गंजा हो, कुछ बाल तो होंगे ही सिर पर।"

आधा किलो जलेबी···एक पांव मूंग की दाल···दो लड्डू · और इसके बाद गल्ले का गिनना। लछमनसिंह का मन कुछ उछला, कुछ बढ़ा, फिर बैठ गया। कुछ नहीं, तीस रुपये भी नहीं हैं साले।

"कितने हुए?" बलबीरसिंह ने पूछा।

लछमन ने जवाब नहीं दिया। चूज़े की छवि उसकी कल्पना में गड़ गई थी। कुछ बोतल-ओतल, कुछ मुर्गी-वुर्गी, कुछ चूज़े-वूज़े की छेड़छाड़। लुत्फ आ जाएगा साला! मगर पैसे का बन्दोबस्त कैसे हो?

धरमसिंह से कहूं तो वह अपना हिस्सा मांगेगा। कमीना है साला! और चन्ना, वह बनिया बस कौड़ी-पैसों की बात ऐसे करता है जैसे रणजीतसिंह के खज़ाने की मुहरें हों। तो फिर···तो फिर···

अरे हां, उस लड़की के भाई को क्यों न पकड़ें, वही, चड्ढा साहब! खूब

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

याद आई उसकी। उसका काम किया है। साले से बीस-तीस तो और झटके ही जा सकते हैं।"

भरभराकर वह दुकान से नीचे उतर आया। ऊंचा लम्बा कड़ियल शरीर। "ओहे मुंडू, ज़रा दुकान देख, मैं अभी आया!" और उसने तहमद ढीली करके फिर कसकर लपेटी, चप्पल में पैर डाले, और दलबीरसिंह से बोला, "तू बैठ, यार। बस, दस मिनट में बन्दोबस्त किए देता हूं।"

दरवाज़ा बन्द था, मगर रोशनी की झिर्री अंधेरे में स्पष्ट रेखा की तरह दिप-दिप कर रही थी। कुंडी उठाकर एक बार गिराई, फिर दूसरी बार, फिर आवाज़ लगाई, "चड्ढा साहब हैं?"

एक मिनट बाद दरवाज़ा खुल गया। रोशनी की रेखा एक पूरी चौखट बन गई। तहमद-बनियान पहने चड्ढा ने बाहर झांका, "कौन?" और फिर लछमन को देखकर बोला, "अच्छा, तुम? कहो भाई, कैसे याद किया?" स्वर में खीज स्पष्ट थी।

लछमन ने एक पल अंधेरे में चड्ढा की आंखों को ढूंढने की चेष्टा की, फिर इस चेष्टा को त्यागकर उसने कहा, "एक मिनट मेरी बात सुनेंगे?"

"ज़रूर, ज़रूर!" और वह बाहर सड़क पर आ गया। दरवाज़ा बन्द करके वह कुछ दूर साथ-साथ चला, फिर रुककर बोला, "कहो, आज कैसे आना हुआ?"

"कुछ नहीं, ऐसे ही!" एक मिनट की अर्थपूर्ण खामोशी के बाद, "बाबूजी, कुछ ज़रूरत आ पड़ी है। तीसेक रुपये हों, तो दे दें।"

"तीस रुपये?" चड्ढा ने कहा और अंधेरे में कहीं अपनी दृष्टि गाड़ दी। "तीस रुपये···इस समय तो, भाई···"

"मेरी ज़रूरत बड़ी सख्त है," लछमन ने आवाज़ कठोर करके कहा। "सोच लीजिए, मुझे तो कहीं न कहीं से ये रुपये इकट्ठे करने ही पड़ेंगे। निर्मल का बाप, आप जानते हैं···"

"अच्छा, भाई, अच्छा?" चड्ढा ने नर्म पड़कर कहा। "तुम ज़रा रुको, देखता हूं।"

"ज़रा जल्दी करना," लछमन ने दो टूक लहजे में कहा। "मैं ज़रा जल्दी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

में हूं।"

चड्ढा की बहन ने निर्मल से शादी कर ली थी, इसे लेकर चड्ढा को बड़ा मलाल था, यह लछमन जानता था। चड्ढा की तरक्की की बात, बात ही रह गई थी, और चड्ढा और निर्मल के मां-बाप में ऐसी कहा-सुनी हुई थी, ऐसी तू-तू मैं-मैं हुई थी, कि सारा मुहल्ला कांप गया था। वह तो छोकरी मुंहज़ोर निकली, उसने चड्ढा की एक न चलने दी। उसकी नाक के नीचे से सामान लेकर चली गई···और कोर्ट में जाकर निर्मल से शादी कर ली। अब निर्मल के मां-बाप भी बदला लेने को उतारू थे, और लछमन जानता था, कि उसका अपना एक लफ्ज़···

"चड्ढा साहब···!" लछमन ने आवाज लगाई।

"आया···" चड्ढा दरवाज़े से सड़क पर उतर आया था और लछमन की तरफ आ रहा था। उसकी चाल की सामान्य अकड़ कुछ सिकुड़-सी गई थी। "ये रहे तीस, भाई···कुछ मेरा भी ख्याल करो, मैं भी बाल-बच्चेदार आदमी हूं।"

हाथ बढ़ाकर लछमन ने नोट पकड़ लिए। उन्हें तहमद में खोंसते हुए उसने कहा, "खयाल है, चड्ढा साहब! खयाल न होता, तो क्या मैं आपके पास ही आता?"

और वह मुड़कर दुकान की तरफ चल दिया। बोतल, मुर्गा, चूज़ा··· उसकी चाल तेज़ हो गई। बलबीरसिंह भी क्या याद करेगा! लछमन क्या कोई ऐसा-वैसा मूज़ी आदमी है!!

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सम्बल

बात की शुरुआत टाइगर की मौत से हुई।

शाम को गीता दफ्तर से लौटी, तो नन्दू ने बताया, टाइगर ने शाम से कुछ नहीं खाया है। बस, चुपचाप ड्राइंग रूम के एक कोने में पड़ा है और हुड़क रहा है।

गीता दफ्तर से आकर चाय पीती है। मगर उस दिन उसने चाय नहीं पी, न कपड़े ही बदले। बस, उसी वक्त नन्दू से टाइगर को उठवाकर मोटर में लिटाया और कुत्तों के डाक्टर के दवाखाने पहुंच गई।

डाक्टर ने टाइगर की जांच की, उसके दिल की धड़कन देखी, आंखें पलट-कर देखीं। फिर संजीदगी से उसने दवा लिख दी।

मगर दवा टाइगर को बचा नहीं पाई। रात को एक ही खूराक दवा उसके हलक के नीचे उतर सकी, और बस! सुबह होते-होते वह चल बसा।

गीता का टाइगर से बहुत प्यार था। दफ्तर जाते समय और घर आने के बाद··· बस टाइगर ही था जो उसके चारों ओर चक्कर लगाता था, कूं-कूं करता था, आसपास कहीं जाती तो उसके साथ जाता था। शानदार अलसेशियन नस्ल का यह कुत्ता उसकी जान से भी ज्यादा प्यारा था।

मगर एक ही रात में वह उससे छिन गया। गीता बहुत उदास रहने लगी। उसने फैसला किया, वह फिर कभी कुत्ता नहीं पालेगी।

गीता का एक भाई है राजेश। वह कलकत्ते में काम करता है। न जाने क्या बात हुई कि एक दिन उसने नौकरी छोड़ दी और दिल्ली पहुंच गया। गीता ने कहा, "कुछ दिन आराम करो···नौकरी फिर कर लेना···"

राजेश ने हामी भरी। वह नौकरी से ऊब गया था। कुछ दिन वह बिलकुल आराम करेगा। कुछ भी वह नहीं करेगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गीता अब अपने छोटे भाई पर सारा प्यार उंडेलने लगी। यह सेब खाओ, सेहत के लिए अच्छा है। ज़्यादा चाय मत पियो, लीवर को खराब करती है। सारी रात-रात-भर मत पढ़ा करो, इससे आंखें कमज़ोर होती हैं। ज़्यादा मत सोया करो, इससे बादी फूलती है।

और दफ्तर जाने से पहले वह नन्दू को खाना बनाने की हिदायत देती। दफ्तर से आकर वह भाई के साथ बैठकर चाय पीती और दफ्तर में सुनी-सुनाई बातें दोहराती।

मगर राजेश उद्विग्न तबियत का नौजवान है। कुछ ही दिनों में वह यहां से भी भर गया। उसका एक दोस्त कलकत्ते से दिल्ली आया, तो दोनों दिन-दिन-भर कॉफी हाउस में बैठे गप्पें मारते रहते···शाम को कनॉट प्लेस के कारी-डोर नापते रहते···

और गीता को चिन्ता लगी रहती, कहीं राजेश बीमार न पड़ जाए। राजेश फिर कहीं काम पर उससे दूर न चला जाए।

एक दिन राजेश ने घर आकर कहा, "गीता, मैं कुछ दिन सैर कर आऊं।"

गीता बात नहीं समझी। बोली, "कहां जाएगा? कश्मीर जाएगा क्या? जा, हो आ।"

"नहीं गीता, सोचता हूं कुछ देर विदेश रह आऊं।"

गीता चुप रही। अपनी चाबी की चेन को उछालती रही।

राजेश ने कहा, "मैं कभी बाहर नहीं गया हूं। नौकरी से कुछ रुपया बचा है, सोचता हूं, घूम-फिर आऊं।"

गीता ने चाबी की चैन को अन्तिम बार उछाला। बोली, "ठीक है, जाना चाहते हो तो हो आओ। मगर विदेशी मुद्रा का प्रबन्ध हो जाएगा?"

राजेश ने कहा, "हां, सो मैंने कर लिया है।"

अब गीता दफ्तर जाती है, तो नन्दू को हिदायत नहीं देती। नन्दू पूछता है, तो कह देती है, कुछ बना ले।

अब गीता दफ्तर से आती है, तो चुपचाप बैठकर चाय पी लेती है। अब वह घर से बाहर रहना पसन्द करती है, क्योंकि घर आकर वह थक जाती है। औंधे मुंह लेटकर उसे आराम नहीं मिलता···चाहे घण्टों पड़ी रहे···

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मगर बाहर घूम-फिरकर भी उसका जी तंग आ चुका है। सिनेमा देखना अच्छा लगता है, थियेटर देखना अच्छा लगता है...मगर रोज़-रोज़ तो रबड़ी भी अच्छी नहीं लगती।

गीता बेचैन है। उसे कुछ सूझ नहीं रहा है। बस, सोती है, उठती है, काम पर जाती है, घूमती-फिरती है। मगर सब कुछ करते हुए भी लगता है, वह कुछ नहीं कर रही है...बस, एक यंत्र है जिसकी गति निर्धारित है, इसलिए चलना ही है। सो चल रही है।

उस दिन बहुत पहले उसके पास काम करने वाली महरी संतो उसे मिलने आई। उसकी गोद में एक बच्चा था...पतला-सा, पीला-सा और गन्दा-सा। मगर संतो उसे ऐसे उठाए थी, जैसे वह उसकी निधि हो!

गीता ने संतो का हाल-चाल पूछा, नन्दू से संतो को चाय बनाकर देने को कहा, खुद बिस्कुट निकालकर बच्चे को दिए, और वह इस सबके दौरान संतो से बातें करती रही, हंसती रही, मुस्कराती रही।

और जब संतो चली गई, तो गीता सोचती रही, सोचती रही, सोचती रही।

कल वह दफ्तर से छुट्टी लेगी। कल वह पूछताछ करके अपना यह काम कर लेगी। लोग बातें बनाएंगे, तरह-तरह की अंट-संट कल्पनाएं दौड़ाएंगे। मगर गीता, जिसने महत्त्वपूर्ण बातों पर मां-बाप का कहना भी नहीं माना, वह लोगों की बातों की क्या परवाह करती है? वह तो अपने मन का करेगी। ज़रूर करेगी। उसे लगा, इतनी साधारण-सी बात उसे पहले क्यों नहीं सूझी?

और संतो का पतला-सा, पीला-सा, गंदा-सा बच्चा उसकी आंखों के आगे बार-बार नाच गया।

कोई बहुत छोटा, नन्हा-सा, असहाय बच्चा वह गोद लेगी, पालेगी, उसे जीने का सहारा देगी और अपने जीने का सम्बल बनाएगी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ललक

खंडहर के पास झाड़ियों के बीच से वह बाहर निकल रहा है। जंगल घना है, न पगडंडी है, न घास से ढंके ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़े। बस, कंटीली झाड़ियां हैं, पेड़ हैं, गाहे-बगाहे कूड़े के ढेरों पर उलझी तारें हैं।

वह अनजाने में ही बहुत भीतर पहुंच गया था। वह मस्ती में था, या किसी तलाश में···यह उसे याद नहीं है। बस, इतना याद है कि वह किसी सूंघ के पीछे चलता गया था, दायें-बायें घूमता गया था। और फिर···

फिर जब एकाएक उसके पांव थककर रुक गए थे, तो उसने महसूस किया था कि यह थकान उसके पांवों में ही नहीं थी; यह थकान उसके बदन के ज़र्रे-ज़र्रे में फैलती जा रही थी। यहां तक कि थकान की एक लरजती लहर उसके मस्तिष्क पर ऐसी ज़ोर से टकराई, जैसे समुद्र की उछाल पत्थर की दीवार पर टकराती है। झुटपुटे सांझ का आसमान, दूर की घूमती, बल खाती, नश्तर की तरह भेदती हेड-लाइटें, ऊपर उड़ती कबूतरों की पांतें—यह सभी कुछ डगमगा गया था।

और वह रुक गया था। धीरे-धीरे सरक कर उसका पूरा शरीर ज़मीन के समानान्तर आ रहा था। मगर वह पूरे इत्मीनान के साथ ज़मीन पर लेट जाए, इससे पहले ही एक काला धब्बा दाईं झाड़ी से उसकी तरफ लपका और वह फिर उठ खड़ा हुआ। उसके शरीर में जैसे एक बार शक्ति का पुनः संचार हुआ। वह खड़ा हो गया, शक्ति उसके भीतर बिंदु में केन्द्रित हो गई।

वह तेज़ी से बाहर चल पड़ा। पत्थरों से बचता, झाड़ियों से किनारा करता वह उस मैदान को पार करने के लिए पूर्ण सचेष्ट हो उठा।

पहले जिस जंगली ज़मीन को पार करते उसे कुछ भी देर नहीं लगती थी, आज वह चला जा रहा था, चला जा रहा था, मगर छोर नज़र न आ रहा था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मगर अब वह आ गया है। छोर पर पहुंच गया है। एक गड्ढा है, एक झाड़ी है, एक पेड़ है—और उसके परे सड़क है। गड्ढा लांघने के लिए उसमें उतरना आसान है, मगर उसके दूसरी तरफ चढ़ना आज कयामत लग रहा है। उसके अगले पैर बार-बार अपनी पकड़ खो देते हैं। रेत व मिट्टी व कंकड़ों में वह गिरते-गिरते बचता है, मगर फिर चढ़ ही जाता है। पसीने से तरबतर, हांपता हुआ वह कुछ देर को खड़ा रह जाता है।

काफी देर से खड़ा है, मगर पसीना सूखा नहीं है, सांस के उतार-चढ़ाव की तेज़ी कम नहीं हुई है। गले में कुछ अटक रहा है। दिमाग की एक नस फड़क रही है। उसे झाड़ी पार कर लेनी चाहिए।

वह चल पड़ता है। झाड़ी के पार पेड़ के तने के गिर्द कुछ ऊंचाई है, वह आसान है। सांस की तेज़ी फिर बढ़ गई है। पेड़ के नीचे ऊबड़-खाबड़ पटरी है, पटरी के परे सड़क है। सांस की धौंकनी बन्द नहीं हो रही है।

मोटरें और स्कूटर और साइकिलें और ट्रक, सब खड़खड़ाकर आवागमन की नदी में बह रहे हैं। एक-एक, दो-दो कारें, एक-एक, दो-दो साइकिलें ··· फिर एक-दो पैदल चलते लोग ··· और।

वह उधर जाएगा, यह सोचते ही वह पटरी पर से उतर पड़ता है। सड़क सपाट है। उसके पैरों को यहां चलने में आराम महसूस होता है। वह उधर जाएगा—मगर आराम...एकाएक अंधेरा हो जाता है। बत्तियां, सड़क, सांझ—सभी कुछ लोप हो गया है। वह एक गहरे गड्ढे में गिर रहा है। गिरता चला जाता है। अंधेरा गड्ढा कहीं भी खतम नहीं हो रहा है, मगर अब उसे कोई परवाह नहीं है। सड़क पार करने की भी नहीं, उस खोमचेवाले के पास पहुंचने की भी नहीं जो उसे कुछ बचा-खुचा खाने को दे दिया करता है, उस दुकान के लकड़ी के तख्ते की भी नहीं जिससे सटकर वह ऊंघ जाया करता है। अब उसे कोई परवाह नहीं है।

× × ×

परवाह उसे हमेशा से थी। यादों की सबसे निचली तह पर वह एक नन्हा-सा पिल्ला था—उछलता-कूदता, नाच-नाच कर चलता, बात-बात पर दुम हिलाता। खुले मैदान में, पानी की छिछली नहर के किनारे चलता, अपने भाई-बहनों से बिछड़ा जब वह एक मेज़ के नीचे दुबक गया था, तब उसके नन्हे पैरों ने और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

चलने से इन्कार कर दिया था, तब एक प्याला चाय का कहीं पास ही उलटा पड़ा दीख गया था उसे। वह उसके पास गया था, सूंघ-सूंघकर उसने उसे टटोला था, फिर ज़बान से छुआ था, फिर चाय की मिठास उसके गले से नन्ही-नन्ही बूंदों में उतर गई थी। फिर एक पांव की ठोकर और गर्दन की पकड़ और पांवों का हवा में लाचार चक्कर खाना और फिर एक गोद की गर्मी और थपक और उसकी नन्ही-नन्ही दुम का पैरों के बीच सिमट जाना। बस, परवाह उसने तभी शुरू की थी। आदमी की परवाह, उसकी गंध की परख, उसकी आवाज़ की पहचान, अपने स्वार्थ के रास्ते की टटोल।

परवाह उसे उस दिन के बाद हमेशा रही। मगर परवाह करने की बारीकियों को उसने तब सीखा, जब वह कोठी में आया। मोटर की अंधेरी गुफा में वह दम साधे बड़ी देर तक पड़ा रहा था। कैसे वह इसमें आ गया, उसे याद नहीं रहा। बस, गाड़ी के धचके अंधेरे में उसके पैरों को उखाड़ देते और वह फिर ऊंची-नीची सख्त ज़मीन पर पहुंच जाता। शरीर की नसों का तनाव अपनी सांसों में लिए वह अकड़े पांवों पर उंकडूं बैठा रहा, कि कभी तो यह भयानक सपना खत्म होगा ही, खत्म होगा ही। और वह सचमुच बहुत देर बाद खत्म हुआ जब दिन के खुले उजाले में वह सीमेंट के फर्श पर खड़ा था, दो बच्चे उसे घेरे खड़े थे, और सूरज की तेज़ धूप बंगले के बगीचे की घास और फूलों पर सफ़ेदी की तरह पड़ी थी और उसकी दुम अनायास ही हिली थी जैसे इस स्थिति में निहित खतरे से बचाव के लिए वह अभ्यर्थना कर रहा हो और खिलखिल करके बच्चे हंस पड़े थे, तालियां पीट-पीटकर, नाच-नाचकर। और वह भी अनायास ही नाचने लगा था।

लेकिन तभी एक सख्त हाथ उसकी गर्दन पर आ पड़ा था और वह पानी के नल के नीचे रख दिया गया था और नाच खत्म हो गया था।

बच्चों के बीच उछल-कूद वह फिर भी करता रहा। मगर मालिक की आंख का आदेश पढ़ना उसने बहुत जल्दी सीख लिया। यह भी सीख लिया कि कमरों से उसे बाहर रहना है, बरामदे में सिर्फ अपनी जगह बैठना है, ज़रूरत पड़ने पर बाहर चले जाने के संकेत कैसे देने हैं, भूख-प्यास किस तरह दर्शानी है।

मगर न जाने कैसे दबे पांव उसका बचपन चला गया, और खेलकूद के अलावा भी उसे कुछ ज़रूरत महसूस होने लगी। रात को ज़ंजीर खोल दिए जाने पर वह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बाहर सड़कों पर आ जाता। उसकी आवाज़ दूर किसी अपने जैसी आवाज़ के उत्तर में गूंज जाती। फिर एक तीसरी आवाज़ उनकी दो आवाज़ों से मिल जाती और रात की खामोशी में एक राग चढ़ने-उतरने लगता। और उसके पैर अधिक तेज़ी के साथ आगे बढ़ने लगते और उसके मालिक की सिखाई हुई सफ़ाई और सभ्यता की आदतें उसके डगों के साथ पीछे छूटती जातीं। और रात की मद्धम रोशनी का आकर्षण रंग पकड़ने लगता।

अधिकतर वह इस सैर से जल्दी ही लौट आता, क्योंकि आवाज़ों के रंग उनके पास पहुंचकर उसे फीके लगने लगते। मगर किसी-किसी दिन तो वह देर तक रात की सुनसान सड़कों पर चहलकदमी करता रहता। लैम्प का प्रकाश न भी होता, तो भी साथी मनपसन्द होने पर कभी कूड़े के ढेर के आसपास, कभी सुनसान खंडहरों में, कभी साफ़-सुथरी घास पर पेड़ के नीचे ऐसी मंडलियां जमतीं कि बस! वक्त का खयाल भी उसके दिमाग से निकल जाता।

मगर फिर एक दिन शाम के समय एक ज़ंजीर उसके गले के गिर्द बांध दी गई और कोठी के दरवाज़े के सींखचे से उस ज़ंजीर का दूसरा छोर लपेट दिया गया। रात का खाना भी उसके पास बाहर ही आया, जबकि अन्य दिनों वह सबके साथ खाने की मेज़ के नीचे बैठा रहता था, और रोटी के और अन्य स्वादिष्ट चीज़ों के टुकड़े उसके लिए फेंक दिए जाते थे।

ज़ंजीर बांधने के बाद कई दिन तक वह चुपचाप गेट के पास लेटा रहा। कभी-कभी उसे नींद आ जाती और वह पैरों पर ठोढ़ी रखकर ऊंघ जाता। असार संसार की माया से वह बहुत कुछ विरक्त हो उठा। न कभी वह ज़ंजीर खींचकर इधर-उधर घूमता, न अपने पुराने साथियों की आवाज़ों का जवाब देता, न आते-जाते लोगों की आहट पाते ही अपनी उपस्थिति से उनको आगाह करता।

अब उसका बदन साफ़-सुथरा रहता, और साफ़-सुथरी कोठी के साफ़-सुथरे बच्चों में एक बार फिर उसका जी साफ़-सुथरी खेलों में लगने लगा। उसका व्यवहार इतना साफ़-सुथरा हो गया कि शाम को खाने के कमरे में भी उसे देर तक रहने का अवसर दिया जाने लगा।

मगर एक बात फिर भी नहीं बदली। दिन-भर ज़ंजीर से आज़ाद रहकर भी रात को सबके सोने से पहले उसे गेट पर बांध दिया जाता। और भले लोगों की तरह वह चुपचाप गेट के उस पार कुछ देर तक देखने के बाद एक अंगड़ाई लेकर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ज़मीन पर लेट जाता, आंखें भीतर को मोड़ लेता, और बस—इसी तरह ऊंघते-जागते रात कट जाती।

उस दिन भी वह इसी तरह ऊंघता रहता, अगर उसे कोई जगाता नहीं। जगाने तक भी गनीमत थी, मगर इस आनेवाले ने तो उसकी शांति भी भंग कर दी। बाहर की दुनिया को वह बिल्कुल भूल चुका था। तेज़ी के साथ वह सब भूला-भुलाया लौट आया। वह घूमना-फिरना, वह आवाज़ों का चढ़ना-उतरना, वह जमघट और ठिठोलियां, वह लड़ाई-झगड़ा। सभी-कुछ लौट आया।

पुराना साथी उसे कुछ देर नाक-आंख से परखकर चला गया। मगर वह खुद, जो इस सब व्यापार के दौरान निरपेक्ष भाव से खड़ा रहा था, उसके जाने के बाद बेचैन हो उठा। कभी इधर जाता, कभी उधर, कभी ज़ंजीर खींचता, कभी गेट के सींखचों में सिर देकर चीख पड़ता। सींखचों के इस तरफ ज़ंजीर से बंधा वह खुद, और सींखचों के उस तरफ का जीता-जागता, गंधों और आवाज़ों से भरा संसार। ये दोनों अलग थे, अलग रहे—बावजूद उसकी बेचैनी के, कि दोनों एक हो जाएं।

सारी रात वह सींखचों के पास खड़ा कराहता रहा। चीख-पुकार का साहस उसमें नहीं था, मगर कराह तो उसके भीतरी दर्द की अनुभूति थी जो रोके न रुक सकती थी। कराह उसके आहत मन का मरहम थी—जितना भी वह कराहता जाता, उसके मन की तसल्ली बढ़ती जाती।

एक रात ··दो रातें ··तीन रातें···आखिर चौथी रात को ये कराहें उसके लिए सफलता ले आईं। रात के अंधेरे में वह ज़ंजीर को खींचकर बाहर जाने की उतावली में कराह रहा था कि एकाएक कोठी के अंदर की बत्ती जली। वह एकाएक चुप हो गया, ज़मीन पर लेट गया। कोठी का दरवाज़ा खुला और रोशनी की एक फांक घास पर बिछल गई। डर और आशा के बीच उसका अंतर फूल गया—डर कि कहीं मालिक की लात न लगे, और आशा कि उसे शायद आज़ाद कर दिया जाए।

मालिक की पदचाप बिलकुल पास आ गई तो वह लेटा रहा। आंखें बंद किए, पैरों पर मुंह धरे। मगर फिर टार्च की रोशनी उसकी आंखों पर पड़ी और वह उछलकर खड़ा हो गया। स्वभावगत स्वामिभक्ति से उसका शरीर हिल उठा। वह मालिक के चारों ओर घूमने को आगे बढ़ा, मगर तभी गर्दन की ज़ंजीर पर ज़ोर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

का धक्का लगा। दम साधकर उसने अपना आपा ढीला छोड़ दिया। और फिर गर्दन पर पड़ा सारा बोझ एक क्षण में हट गया।

वह एक कदम आगे बढ़ा। किसी ज़ंजीर ने उसको नहीं रोका।

वह एकदम पीछे लौटा। अपनी आज़ादी के अहसास को खुशी में बदलने की एक नन्ही-सी कृतज्ञता दर्शाने का प्रयत्न करता न करता कि— एक भरपूर लात उसके बदन पर पड़ी। चिहुंककर वह पीछे हट गया। गद्देदार पैरों पर वह धीरे-धीरे पीछे हटता गया। मालिक ने गेट खोल दिया और वह मालिक को देखता दर्द से कराहता बाहर हो गया।

और फिर एक स्फूर्ति का संचरण उसकी नस-नस में बज उठा। दर्द की अनुभूति एक क्षण में ओझल हो गई। खुली हवा का सांस क्या किसी ज़ंजीर के छोर पर प्राप्त हो सकता है।

कूदकर उसने सड़क पर एक चक्कर काटा और फिर खड़ा हो गया। गेट बंद हो चुका था और मालिक की पदचाप दूर होती जा रही थी।

वह कुछ देर खड़ा रहा। खड़ा रहा और देखता रहा। कोठी का दरवाज़ा भड़भड़ाकर बंद हो गया।

वह आगे बढ़ आया। गेट के सींखचों से भीतर देखने पर उसे पीठ पर दर्द की एक अजीब-सी टीस की अनुभूति हुई। अन्दर घास पर पड़ा रोशनी का टुकड़ा एकाएक कमरों में लौट गया।

अब चारों ओर सन्नाटा सनसना रहा था।

उसने घूमकर पीछे देखा। सड़क सुनसान थी और उजाले-अंधेरे के धब्बे दूर तक चले गए थे।

कोठी के गेट पर एक नज़र डालकर वह मुड़ा और तेज़ी से उन धब्बों की की ओर चल दिया। अपने पुराने साथियों से मिलने की उतावली उसके खून में तेज़ी से खुलने लगी थी।

× × ×

यादों की सबसे ऊपरी तह पर पहुंचकर उसका अहसास रुक जाता है। सब कुछ धुंधला जाता है, एक ठोस कोहरे से ढंक जाता है।

कुहरा एक गेंद की तरह घूम रहा है। एक बड़ी-सी गेंद जिसमें कभी एक पक्ष उभरता है, कभी दूसरा। बेतरतीब, चित्र···कटे-फटे जीवन के अंश···आकाश

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के टुकड़े···गड्ढों के नुकीले-कठोर पत्थर···सूखी टहनियों के तीखे नश्तर···नर्म रेशमी घास···

एकाएक उसकी चेतना का बुलबुला सतह पर आ जाता है। बेपनाह रोशनी उसकी आंखों को चुंधिया जाती है। मरे हुए शरीर में दो जिन्दा आंखें। वह एक बार बहुत कोशिश करके अपनी आंखें खोलता है। सड़क के बीचोंबीच पड़ा है वह। इधर साइकिल गुज़र रहे हैं, उधर से मोटरें सर्र से उड़ी जा रही हैं। इधर एक ट्रक खड़खड़ाकर भाग रहा है, उधर एक स्कूटर उछलता-कूदता चला जा रहा है।

सड़क की इस आमद-रफ्त में, इस नदी की तरह बहते अविरल बहाव में वही अकेला स्थिरबिन्दु है। उसकी आंखें बंद हैं, उन्हें खोलने का साहस वह नहीं जुटा पा रहा है। मगर उसके कान खुले हैं। उनमें नाना प्रकार की आवाज़ें आ रही हैं। खटर, खटर, स्सर्र, पौं-पौं, हीं-हीं—अनेक तरह का शोर जिसके स्रोत उसके गडडमड दिमाग में विभाजित नहीं हो रहे हैं।

कोठी से निकले उसे बहुत दिन हो गए हैं—एक युग बीत गया है। जीवन की ललक से लबालब वह खूब घूमा-फिरा है। खूब विचरण किया है उसने। खूब भोगा है जो भी भोगने योग्य है। किसी ज़ंजीर ने नहीं रोका है उसे, किसी पैर ने ठोकर नहीं मारी है उसे। मगर फिर भी वह जीर्ण-शीर्ण हो गया है। उसका फूल-सा बदन कट-फट गया है। उसका कभी का साफ-सुथरा शरीर अब धब्बों से भरा पड़ा है, खाज से भरा पड़ा है। वह लाख सफ़ाई करता है—कोई असर नहीं होता। और वह ललक? वह भी न जाने कहां चली गई है? बहुत क्षीण हो गई है वह ललक—पिचक गई है। जैसे गोल-गुथना बच्चा सूखे से पिचक जाता है।

मगर फिर भी वह जीना चाहता है। शोर उसके चारों ओर बढ़ रहा है, या शायद उसकी चेतना शोर को ज़्यादा ग्रहण कर रही है। और ज्यों-ज्यों शोर बढ़ता जा रहा है, त्यों-त्यों उसकी बेचैनी बढ़ती जा रही है, डर बढ़ता जा रहा है।

वह धीरे से आंखें खोल देता है। एक ट्रक के बड़े-बड़े पहिये उसकी ओर चले आ रहे हैं। वह झपाक् से आंखें बन्द कर लेता है और प्रतीक्षा करता है उस क्षण की जब वह पहिया उसके ऊपर से गुजर जाएगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बहुत देर तक प्रतीक्षा करता रहता है, मगर कुछ भी नहीं होता। शायद उसके बीमार दिमाग की उपज था वह ट्रक का पहिया ! शायद सपना देख रहा था वह !

एक बार फिर वह धीरे से आंखें खोल देता है। नहीं, सपना नहीं है यह। एक पहिया उसकी ओर लपक रहा है। सर्र से पहिया उसके पास गुज़र जाता है।

घबराकर वह दूसरी ओर देखता है। उधर से भी पहिये उसीकी ओर आ रहे हैं, खूब तेज़ी से। इस बार वह आंखें बंद नहीं करता। उसकी आंखें पहियों के चक्कर में उलझ जाती हैं। पहिये आते हैं, उसके दिल की धड़कन तेज़ हो जाती है, मगर पहिये उसके पास से निकल जाते हैं। हल्का-सा हवा का झोंका उसके चेहरे पर फैल जाता है और फिर एक और पहिया दूर से दिखाई देने लगता है।

अब वह पूरी तरह होश में आ चुका है। जीने की ललक का सूखा पौधा कुछ-कुछ हरियाली पकड़ने लगा है। उसे जिन्दा रहना है। उसे ज़िन्दा रहना है। उसे इन अनगिनत पहियों में से एक पहिये के नीचे आकर जान नहीं गंवानी है। उसे मरना नहीं है, अभी नहीं मरना है।

उसका दिमाग अब बिल्कुल स्वस्थ है, सचेत है। वह अभी भी वहीं पड़ा है जहां कल शाम अचेत होकर गिरा था, मगर उसका दिमाग़ बचाव के रास्ते ढूंढ रहा है। मौत की इस नदी से निकलने का उपाय खोज रहा है।

उधर से एक बस आ रही है—बड़े-बड़े डबल पहियों वाली। उधर से एक गाड़ी आ रही है। इन दोनों गाड़ियों के पीछे और गाड़ियां हैं, ट्रकें हैं। पहियों पर पहिये चले आ रहे हैं।

एक क्षण में उसने निश्चय कर लिया है। वह कूदकर सड़क के दूसरी ओर पेड़ के परे पहुंच जाएगा, और बस। सदा के लिए मौत से छुटकारा पा जाएगा।

वह उठ खड़ा होता है। पांवों में जान है। लगता है, पूरी जान है। वह खड़ा हो गया है। वह अपने पैरों पर खड़ा हो अपने दोनों ओर एक नज़र डालता है और…

झपाटे के साथ वह सड़क के पार कूद जाता है।

मगर यह पैरों के जोड़ों में क्या हो गया है ? यह छलांग क्यों नहीं लगी है ? यह झपाटे का अंदाज़ क्यों गड़बड़ा गया है ? अभी मैं सड़क पर ही क्यों हूं ? पार की धूल तक क्यों नहीं पहुंचा ?

उसके दिमाग़ का साथ उसका शरीर क्यों नहीं दे रहा है, यह बात उसकी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

समझ में नहीं आ रही है।

चीं···एक ब्रेक लगता है।

कुछ भी बातें उसकी समझ में नहीं आ रही हैं।

खड़र-खड़र खड़ ! शोर उसके सिर आ गया है। उसके ऊपर अंधेरा करता हुआ कुछ झपाटे से आगे बढ़ रहा है। कुछ···

एक झटके के साथ वह धराशायी हो जाता है। पहिया उसपर झपट रहा है। वह मरना नहीं चाहता। उसका दिल गले में आ अटका है।

चीं··ीं·ीं···

एक तीव्र चीख़ उसके गले से निकल पड़ती है। जीने की ललक की आख़िरी चीख़—और फिर गाड़ी का चक्का उसके शरीर को कुचलता आगे निकल जाता है।

एक भयानक विस्फोट। अंधेरे के सिवाय कुछ भी बाकी नहीं है। न रोशनी, न पीड़ा, न शरीर···

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

781 . 2002

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE